भरतसिंह उपाध्याय

बोधिवृक्ष की छाया में

बोधि-वृक्ष की छाया में

बुद्ध और बौद्ध धर्म-संबंधी निबंध

भरतसिंह उपाध्याय

१९८६

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
यशपाल जैन
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
एन ७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली

●

दूसरी बार : १६८६
मूल्य
दस रुपया

●

मुद्रक
बत्रा आर्ट प्रिन्टर्स,

प्रकाशकीय

'मण्डल' से अब तक बुद्ध और बौद्ध धर्म-संबंधी कई पुस्तकें निकल चुकी हैं—गौतम बुद्ध, बुद्ध-वाणी, बुद्ध और बौद्ध साधक, थेरी-गाथाएं, जताक-कथा, आदि। ये सभी पुस्तकें पाठकों को बहुत रुचिकर हुई हैं। गौतम बुद्ध पर तो केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय द्वारा पाँच सौ रुपये का पुरस्कार दिया गया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सब पुस्तकों में बड़ी स्वस्थ सामग्री है। उसका जितना अध्ययन और मनन किया जाय, उतना ही लाभदायक होता है।

हमें हर्ष है कि प्रस्तुत पुस्तक द्वारा उस श्रृंखला में एक नई कड़ी जुड़ रही है। इस पुस्तक के लेखक ने बुद्ध और बौद्ध धर्म का बड़ी गहराई से अनुशीलन किया है। इस रचना में अपने उसी अध्ययन का लाभ उन्होंने पाठकों को दिया है। भगवान् बुद्ध के जीवन के मानवीय पहलू पर जहां प्रकाश डाला है, वहां बौद्ध धर्म के विभिन्न अंगों पर भी विचार किया है। बौद्ध धर्म के व्यापक प्रभाव तथा प्रचार से संबंधित कुछ और भी सामग्री इसमें दी है।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तक के अध्ययन से सभी पाठकों को लाभ होगा। जिनमें आध्यात्मिक भूख है, उनको तो यह पुस्तक बहुत ही मूल्यवान सिद्ध होगी।

—मंत्री

दो शब्द

बुद्ध और बौद्ध धर्म से सम्बन्धित मेरे कुछ चुने हुए निबन्ध इस पुस्तक में संगृहीत हैं। वैसे तो बुद्ध-शासन में सभी कुछ मानवीय है, सभी कुछ साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, फिर भी ऐसा प्रयत्न किया गया है कि उसके इस पक्ष पर जिनसे अधिक प्रकाश पड़े, ऐसे ही लेखों का संग्रह इसमें किया जाय। साधना के पक्ष का भी ध्यान रक्खा गया है।

मनुष्य का सबसे महान् पर्येषण क्या है, इस पर विचार करते हुए महामति सुकरात ने एक जगह कहा है कि यह इस बात का अनुशीलन करना है कि मनुष्य क्या बने और जीवन में क्या करे? यदि यह कहना ठीक है, तो इस प्रकार के पर्येषण के लिए बुद्ध के जीवन और ज्ञान से अधिक प्रेरणा और कहां मिल सकती है? उस 'किं-कुशल-गवेषी' पुरुष ने जीवन में जो खोज की, वही एकमात्र सच्ची खोज है और जिसे उसने बोधि के रूप में पाया, उससे अधिक महान् वस्तु मानवीय जिज्ञासा अध्यात्म के क्षेत्र में अभी कुछ पा नहीं सकी है। मनुष्य का सम्पूर्ण आध्यात्मिक पुरुषार्थ जैसे बुद्ध के जीवन में पुंजीभूत हो गया है। यही कारण है कि उसपर आधारित साहित्य जीवन की खोज करनेवालों के लिए सदा एक निरन्तर सेवनीय और गवेषणीय गोचर-भूमि बन गया है। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जिसके समान बोधमय भावों पर निर्भर और मनुष्य के नैतिक उत्कर्ष को करनवाली कोई दूसरी अभि-व्यक्ति विश्व में दिखाई नहीं पड़ती।

परन्तु इन पृष्ठों में इस अभिव्यक्ति की कोई गहरी छानबीन नहीं की गई है। यहां केवल कुछ स्फुट निबन्ध हैं, जिन्हें समय-समय पर लेखक ने अपने मानसिक परितोष के लिए लिखा है। आशा है, इनसे बुद्ध-ज्ञान के कुछ विशिष्ट पक्षों, देनों और परिणतियों को समझने में सौम्य पाठकों को सहायता मिलेगी और उन्हें कुछ-न-कुछ स्पर्श उस अवस्था का भी होगा, जिसके सम्बन्ध में एक बौद्ध ग्रन्थ (बुद्धवंश) में कहा गया है—

" 'बुद्ध', 'बुद्ध' कहते हुए मैंने सौमनस्य का अनुभव किया।

" 'बुद्ध', 'बुद्ध' चिन्तन करते हुए उस समय में मार्ग का शोधन करता था।"

बौद्ध साहित्य के अनुशीलन के महत्त्व को मैं इसी पर्यन्त नाप सका हूं।

—भरतसिंह उपाध्याय

विषय-सूची

बोधि-वृक्ष की छाया में

: १ :

बुद्ध क्या हैं ?

बुद्ध को यद्यपि एक उत्तर काल में 'अति-मानव' का रूप दे दिया गया और उनके व्यक्तित्व के चारों ओर चमत्कारपूर्ण अतिमानुषी कथाएं गढ़ दी गईं, परन्तु अपने जीवन में बुद्ध पूर्ण मानव थे। एक मानव की तरह ही वह एक छोटे-से गणराज्य के राजा के यहां पैदा हुए, मानव की तरह ही उन्हें जिज्ञासाएं और शंकाएं हुईं,जिनका उन्होंने समाधान भी मनुष्य की तरह ही किया और फिर जीवन के सत्यों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद अपने जीवन के शेष ४५ वर्ष उन्होंने एक मनुष्य की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते हुए और लोगों को अपने विचार समझाते हुए व्यतीत किये। अन्त में उनकी मृत्यु भी एक मनुष्य की तरह ही रोग से और "आनन्द ! मैं प्यासा हूं, पानी पीऊंगा" की पूरी मानवीय भूमिका के साथ, किन्तु गम्भीर, अपराजित शान्ति की अवस्था में, हुई। अपने जीवन की सभी क्रियाओं में बुद्ध मानव थे। उनका जीवन आदि से लेकर अन्त तक एक मानव का जीवन ही है।

परन्तु बुद्ध असामान्य मानव थे। जैसे मानव इस धरती पर चलते-फिरते, साधारण काम-काज करते और अपने बाल-बच्चों को पालते-पोसते दिखाई पड़ते हैं, वैसे बुद्ध नहीं थे। हम उन्हें देवता तो नहीं कह सकते, क्योंकि देवताओं में राग-द्वेष, सुख-विलास होता है, जिनसे बुद्ध विमुक्त थे और ऊपर उठे हुए थे। सम्पूर्ण मानवीय दुर्बलताओं और असंगतियों (जिनसे मानव अनिवार्यतः युक्त रहता है) से अतीत होने

के कारण बुद्ध पूरी तरह 'मनुष्य' भी नहीं कहे जा सकते। हम उन्हें केवल 'बुद्ध' ही कह सकते हैं, प्रबुद्ध मानव, आश्चर्यमय पुरुष !

परन्तु यहां भी एक भय है। हम बुद्ध को अक्सर मूर्तियों में पालथी मारकर ध्यान करनेवाले एक योगी के रूप में देखते हैं। यह ठीक भी है। बुद्ध ऐसे ही ध्यान करते थे और उनके मुख-मण्डल पर सबको अपनी ओर खींचनेवाली जो शान्ति बिराजती थी, उसीकी बहुत अधूरी अभिव्यक्ति शिल्पियों ने उनकी पाषाण-मूर्तियों में की है। परन्तु यह समझना गलत होगा कि इस औपचारिक आसन में ही बुद्ध सदा रहते थे, या कि एक योगी, महायोगी, के रूप में मानवीय भावनाओं का स्वच्छ और निर्मल प्रवाह उनके हृदय के अन्दर नहीं बहता था। इसके विपरीत, बहुतों को यह आश्चर्यजनक लगेगा कि बुद्ध संगीत की प्रशंसा भी कर सकते थे और अपने एक श्रमण-कवि शिष्य के काव्यात्मक उद्गारों को भी सुन सकते थे। दुःखग्रस्त प्राणियों के लिए उनके हृदय में जो करुणा की विमल धारा बहती थी, उसके बारे में तो कुछ कहना ही नहीं, बुद्ध प्राकृतिक दृश्यों की रमणीयता का अनुभव करते थे और पूर्ण ज्ञानी होते हुए भी उन्हें अपने एक शिष्य के वियोग में चारों दिशाएं शून्य-सी जान पड़ने लगी थीं। जिसने दुःख को जीवन के प्रथम सत्य के रूप में देखा था, उसकी संवेदनशीलता की सीमा नहीं आंकी जा सकती। परन्तु इसके साथ ही बुद्ध अपने हृदय की सब ग्रन्थियों को तोड़ चुके थे। वह शोक-परिदेव से परे थे, हर्ष-उल्लास उन्हें नहीं हो सकता था। दुःखमय या सुखमय अनुभूतियों को अनुभव करना उनके लिए शेष नहीं रह गया था। ऐसे हृदयवान् और हृदयहीन मानव थे बुद्ध !

बुद्ध वास्तव में क्या थे, इसकी कुंजी हमें उनके एक शिष्य के कतिपय शब्दों में मिलती है, जो उन्होंने अनायास अपने एक वार्तालाप के प्रसंग में कहे। महाकात्यायन बुद्ध के एक प्रसिद्ध शिष्य थे। उज्जयिनी में जन्म लेकर उन्होंने अपने प्रदेश अवन्ती (मालवा) में तो बुद्ध-शासन का प्रचार किया ही, हम उन्हें राजगृह, सोरों, श्रावस्ती और मथुरा तक धर्म-प्रचारार्थ जाते देखते हैं। एक बार वह वरणा (बुलन्दशहर) भी आये थे और वहां एक सरोवर के पास, जो उस

समय कर्दम ह्रद (कद्दम दह) कहलाता था, ठहरे थे । यहां एक ब्राह्मण, जिसका नाम आरामदण्ड था, उनसे मिलने आया और इस ब्राह्मण ने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न उनसे पूछा—ऐसा प्रश्न, जो सब युगों की संस्कृतियों के लिए शाश्वत काल से एक आधारभूत समस्या बना हुआ है। उसने पूछा कि समाज में पारस्परिक कलह और ईर्ष्या-द्वेष क्यों है ? क्यों ब्राह्मण ब्राह्मण से लड़ता है, क्षत्रिय क्षत्रिय से, वैश्य वैश्य से, राजा राजा से, पति पत्नी से, पत्नी पति से, पिता पुत्र से, पुत्र पिता से, भाई भाई से, बहन भाई से ? मनुष्य-मनुष्य के बीच यह चिर कलह क्यों व्याप्त है ? महाकात्यायन ने उसे उत्तर देते हुए बताया कि यह ऐन्द्रिय वासनाओं की दासता और उनके बन्धनों के कारण है। इससे ही समाज में सर्वत्र कलह, पारस्परिक संघर्ष और असन्तोष व्याप्त है। आरामदण्ड ने इसपर दूसरा प्रश्न उनसे यह पूछा कि क्या फिर इस संसार में कोई ऐसा व्यक्ति भी है, जो ऐन्द्रिय वासनाओं की दासता और उनके बन्धनों से परे चला गया हो। इसका उत्तर 'हां' में देते हुए महाकात्यायन ने उसे बताया कि शाक्य-कुल से प्रव्रजित भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध ऐसे ही एक पुरुष हैं। आगे उन्होंने उसे यह भी बता दिया कि वह भगवान् इस समय श्रावस्ती में निवास कर रहे हैं। आगे कथा चलती है कि आरामदण्ड रोमांचित होकर वहां उनसे मिलने गया और उसने बुद्ध को वैसा ही पाया जैसा महाकात्यायन ने उसे बताया था—एक ऐसा पुरुष, जो सम्पूर्ण ऐन्द्रिय वासनाओं की दासता और उनके बन्धनों से अतीत हो गया है। सम्पूर्ण बौद्ध शास्त्रों को पढ़ने के बाद बुद्ध के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में मन पर यही छाप पड़ती है। उनके जीवन की छोटी-से-छोटी घटना और सम्पूर्ण चर्या इस तथ्य को उद्घाटित करती है कि वह सचमुच एक ऐसे पुरुष थे, जो सम्पूर्ण ऐन्द्रिय वासनाओं की दासता और उनके बन्धनों से अतीत हो गये थे, उनसे परे चले गये थे। बुद्ध का सही रूप यही है।

: २ :

भगवान् बुद्ध की 'आत्मकथा'

भगवान् बुद्ध ने 'आत्मकथा' जैसी कोई वस्तु नहीं लिखी है। वस्तुतः लिखित रूप में उन्होंने हमारे लिए कुछ नहीं छोड़ा है। भगवान् बुद्ध के सभी उपदेश मौखिक थे। उनके परिनिर्वाण के बाद उनका संकलन और सम्पादन किया गया। पालि त्रिपिटक के रूप में उनका यह संकलित और सम्पादित रूप आज हमें प्राप्त है। बुद्ध की जीवनी और उपदेशों को जानने का सबसे अधिक प्रामाणिक साधन पालि त्रिपिटक ही है।

बुद्ध-उपदेशों की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे भगवान् बुद्ध के अपने अनुभव पर आधारित हैं। उन्होंने जोर देकर कहा है, "मैं यह किसी श्रमण या ब्राह्मण से सुनकर नहीं कहता, बल्कि मैंने जो स्वयं देखा है, स्वयं जाना है, स्वयं अनुभव किया है, उसे ही कहता हूं।" इस प्रकार बुद्ध-वचनों में हमें बुद्ध के आन्तरिक जीवन की पूरी कथा मिल जाती है, जिसका प्रभाव और ऐतिहासिक महत्त्व उनकी संवादात्मक शैली के कारण अधिक बढ़ गया है। यहां हम बुद्ध-जीवन-सम्बन्धी उस सूचना को संकलित करने का प्रयत्न करेंगे, जो स्वयं बुद्ध-मुख से हमें प्राप्त हुई है।

"हिमालय (हिमवन्त) की तराई में एक जनपद है। वहां कोशल-देशवासी एक ऋजुस्वभाव राजा हैं, जो धन और पराक्रम से युक्त हैं। वह सूर्यवंशी हैं और शाक्य जाति के हैं। मैं उनके कुल से प्रव्रजित हुआ हूं। मैं विषयों की कामना नहीं करता। विषयों के दुष्परिणाम को देखकर मैंने वैराग्य को क्षेम समझा है। मैं मुक्ति की गवेषणा में जारहा हूं। मेरा मन इसीमें रमता है।"[1]

---

१. पब्बज्जा-सुत्त (सुत्त-निपात)। अपने जीवन और उद्देश्य का यह परिचय सिद्धार्थ ने

"मेरे नगर का नाम कपिलवस्तु है। मेरे पिता शुद्धोदन हैं। मेरी माता, जिन्होंने मुझे जन्म दिया, माया देवी कहलाती हैं। उन्तीस वर्ष तक मैंने घर में वास किया। मेरे तीन उत्तम प्रासाद थे, जिनके नाम थे राम, सुराम और सुभृत। भद्दकच्चा[1] (भद्रकृत्या) नाम की मेरी नारी थी और राहुल पुत्र।"[2]

"फिर भिक्षुओ! कुछ समय बाद जबकि मैं सुन्दर यौवन से युक्त था, यौवन की पूर्ण अवस्था में स्थित था और मेरे केश काले थे, मैं अपने अश्रुमुख पिता और माता को छोड़कर, उनकी इच्छा के विपरीत, अपने केश और दाढ़ी को मुड़वाकर, काषाय वस्त्र पहनकर, गृह से गृहविहीन अवस्था में जाकर प्रव्रजित हो गया।"[3]

"चार निमित्तों[4] को देखकर मैं घोड़े पर चढ़कर (कपिलवस्तु से) बाहर निकल गया। छह वर्ष तक मैंने सत्य-प्राप्ति के लिए कड़ी तपस्या की।"[5]

"भिक्षुओ! बुद्धत्व-प्राप्ति से पूर्व, जब कि मैं बोधिसत्व ही था और सम्यक् ज्ञान के लिए प्रयत्न कर रहा था, (मैंने देखा कि) मैं स्वयं जन्म, जरा, रोग, मृत्यु और दुःख से पीड़ित हूं और गवेषणा भी मैं ऐसे ही पदार्थों (पुत्र, भार्या, दास-दासी, सोना-चांदी) की कर रहा हूं, जिनका स्वभाव जन्म, जरा, रोग, मृत्यु और दुःख है। तब भिक्षुओ! मुझे विचार हुआ—क्यों मैं, जो कि जन्म, जरा, रोग, मृत्यु और दुःख से पीड़ित

राजा बिम्बिसार को उस समय दिया जब वह गृह त्याग कर मुक्ति की गवेषणा में जा रहे थे और बिम्बिसार ने उन्हें सम्पत्ति का प्रलोभन देकर रोकने का प्रयत्न किया था।

१. पालि साहित्य में अन्य प्रयुक्त नाम हैं भद्दा कच्चाना (भद्रा कात्यायनी), बिम्बा और राहुल-माता। बौद्ध संस्कृत-साहित्य में इनको गोपा और यशोधरा या यशोवती नाम से पुकारा गया है।
२. बुद्धवंस, पृष्ठ ७२ (उत्तम भिक्षु द्वारा प्रकाशित संस्करण)
३. अरियपरियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम. १।३।६)
४. वृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित, इन चार चिन्हों को देखकर सिद्धार्थ प्रव्रजित हुए थे।
५. बुद्धवंस, पृष्ठ ७२।

हूं, ऐसी ही वस्तुओं के पीछे दौड़ रहा हूं, जो पुनः इन्हीं बातों को पैदा करेंगी ? क्यों न मैं इनके दुष्परिणामों को देखकर उस वस्तु की खोज करूं, जहां न जन्म है, न जरा है, न रोग है, न मृत्यु है और न दुःख, बल्कि जो अनुपम योगक्षेम-स्वरूप और क्लेशरहित स्थान है ?"[1]

"भिक्षुओ ! बुद्धत्व-प्राप्ति से पूर्व, जबकि मैं बोधिसत्व ही था और सम्यक् ज्ञान के लिए प्रयत्न कर रहा था, मुझे यह विचार आया करता था—अहो ! यह लोक दुःख में पड़ा हुआ है। यहां जन्म लेना और मरना है। एक अवस्था से च्युत होकर दूसरी में उत्पन्न होना है। यहां जरा और मृत्यु हैं। इस दुःख से विमुक्ति जानी नहीं जाती। हाय ! क्या इससे निःसरण का भी कोई मार्ग होगा ?"[2]

"उत्तम शान्ति-पद की खोज करते हुए मैं आलार कालाम के पास पहुंचा। मैंने आलार कालाम से कहा—'आयुष्मन् कालाम ! मैं तुम्हारे धर्म-विनय में ब्रह्मचर्यवास करना चाहता हूं।' ऐसा कहने पर आलार कालाम ने मुझसे कहा—'आयुष्मन् ! तुम मेरे साथ रह सकते हो। यह धर्म-विनय ऐसा है कि जहां बुद्धिमान् पुरुष शीघ्र ही अपने अन्तर्ज्ञान से अपने आचार्य के ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।' भिक्षुओ ! थोड़े ही समय में मैंने आलार कालाम के ज्ञान को सीख लिया और फिर उनसे पूछा—'आयुष्मन् कालाम ! जिस ज्ञान को प्राप्त कर तुम अपने जीवन में अभ्यास करते हो उसकी पहुंच कहांतक है ?' आलार कालाम ने उत्तर दिया, 'आकिंचन्यायतन तक।' तब भिक्षुओ ! मुझे यह विचार हुआ—आलार कालाम के पास ही श्रद्धा, वीर्य, समाधि और प्रज्ञा नहीं हैं, मेरे पास भी हैं। मैं भी इस धर्म को स्वयं जानकर, स्वयं साक्षात्कार कर, जीवन में अभ्यास करूंगा। भिक्षुओ ! मैं शीघ्र ही इस धर्म को साक्षात्कार कर विहरने लगा। तब भिक्षुओ ! मैंने आलार कालाम से जाकर कहा, 'आयुष्मन् ! मैं इस धर्म को स्वयं जानकर, स्वयं साक्षात्कार कर, विहरता हूं।' आलार कालाम ने उत्तर दिया, 'मेरा सौभाग्य है कि मुझे तुम जैसे

---

१. अरियपरियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम. १।३।६)

२. संयुत्त-निकाय।

सब्रह्मचारी मिले। जिस धर्म को मैंने साक्षात्कार कर जीवन में अभ्यास किया है, उसीको तुमने भी साक्षात्कार कर अभ्यास किया है। जिस धर्म को मैं जानता हूं, उस धर्म को तुम जानते हो। जिस धर्म को तुम जानते हो, उस धर्म को ही मैं जानता हूं। हम तुम दोनों समान हैं। जैसे तुम, वैसा मैं। जैसा मैं, वैसे तुम। आओ आयुष्मन् ! हम तुम दोनों मिलकर इस गण का नेतृत्व करें।' इस प्रकार आलार कालाम ने आचार्य होते हुए भी मुझ शिष्य को अपने समान पद पर स्थापित किया और मेरे प्रति बड़ा सम्मान प्रदर्शित किया। परन्तु मैंने सोचा—यह शिक्षा केवल आकिंचन्यायतन तक ले जानेवाली है। इससे निर्वेद, विराग, निरोध, उपशम, ज्ञान, संबोध और निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। तब मैं उस धर्म को अपर्याप्त समझकर वहां से उदासीन हो चल दिया।

"श्रेष्ठ शान्ति-पद की खोज करते हुए मैं उद्रक रामपुत्र के पास पहुंचा।...उद्रक रामपुत्र ने नैवसंज्ञा-नासंज्ञा-आयतन बतलाया...अपने समान पद पर स्थापित किया। मैंने सोचा—यह धर्म न निर्वेद के लिए है, न ज्ञान के लिए, न उपशम के लिए, न निर्वाण के लिए। उस धर्म को अपर्याप्त समझकर, वहां से उदासीन हो चल दिया।"[1]

"शान्ति की खोज में मगध में घूमते हुए मैं क्रमशः उरुवेला सेनानी-निगम में पहुंचा। वहां मैंने देखा कि एक रमणीय भूमिभाग में, वनखण्ड में, एक नदी बह रही है, जिसके घाट अत्यंत सुन्दर और श्वेत हैं। चारों ओर फिरने के लिए गांव थे। मैंने सोचा—मुक्ति के लिए प्रयत्न करने वाले कुल-पुत्रों के लिए यह भूमि ध्यान करने के लिए अनुकूल है। यह ध्यान-योग्य स्थान है। मैं वहां ध्यान करने के लिए बैठ गया।"[2]

"सारिपुत्र ! मुझे स्मरण है कि उस समय मैं नग्न (अचेलक) भी रहा था, मुक्ताचार भी रहा था। अपने लिए दी गई भिक्षा को मैं ग्रहण नहीं करता था, और न निमन्त्रण स्वीकार करता था। कभी-कभी

---

१. अरियपरियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम. १।३।६)
२. अरियपरियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम. १।३।६)

मैं एक ही घर भिक्षा करता था और मेरा आहार होता था केवल एक या दो कौर। एक दिन में एक ही बार आहार करता था और कभी-कभी दो-दो, सात-सात और यहां तक कि पन्द्रह-पन्द्रह दिन में एक ही बार खाना खाता था। कभी केवल शाक ही खाता था, कभी संवा और कोदों ही। सारिपुत्र ! मैं तृण-भक्षी भी था और गोबर-भक्षी भी। मैं वल्कल चीर पहनता था और कभी-कभी मुर्दे के कपड़ों को ही धारण करता था। कांटे की शैया पर सोता था और शाम को जल-शयन के व्यापार में लग्न होता था। अनेक प्रकार से मैं अपनी काया को कष्ट देता था। सारिपुत्र ! इस हद तक मेरी यह तपस्विता थी।

"सारिपुत्र ! पपड़ी पड़े अनेक वर्ष के मैल को मैं अपने शरीर पर संचित किये रहता था। मैं अपने इस मैल को अपने हाथ से धोऊं या दूसरे इसे धोयें, यह इच्छा भी मुझे न होती थी। सारिपुत्र ! इस हद तक मेरा रुक्षाचार बढ़ा हुआ था।

"सारिपुत्र ! मैं वहां नितान्त एकान्तसेवी था। यदि किसी ग्वाले, घसियारे या लकड़हारे को भी देखता तो उससे हटकर किसी दूसरे वन या खड्ड को चला जाता था, ताकि वह मुझे न देखे और मैं उसे न देखूं।

"सारिपुत्र ! हेमन्त की रातों में मैं चौड़े में रहता था। मुर्दों की हड्डियों का सिराहना बनाकर मैं श्मशान में शयन करता था। चरवाहे आकर मुझपर थूकते भी थे, मूत्र भी करते थे, धूल भी फेंकते थे और मेरे कानों में सींक भी करते थे। परन्तु सारिपुत्र ! मुझे उनके विषय में कोई बुरा भाव उत्पन्न नहीं होता था। इस हद तक मैं उपेक्षा-विहारी था।"[1]

"अग्निवेश ! मेरे मन में हुआ—क्यों न मैं दांतों के ऊपर दांत रख, जिह्वा द्वारा तालू को दबा, मन से मन को निग्रह करूं। तब मेरे दांत पर दांत रखने, जिह्वा से तालू को दबाने के कारण मेरी कांख से पसीना निकलता था। उस समय मैंने अदम्य वीर्य आरम्भ किया था।

---

१. अस्सी वर्ष की अवस्था में भगवान् ने अपने प्रधान शिष्य सारिपुत्र को अपनी तपस्या का यह विवरण सुनाया था। महासीहनाद-सुत्तन्त (मज्झिम. १।२।२)।

मेरी स्मृति जागृत थी और काया तत्पर थी। फिर मैंने मुख, नासिका और कानों से श्वास का आना-जाना रोक दिया। आश्वास-प्रश्वास रुक जाने से मेरे सिर में वात टकराने लगे, कड़ी सिर की वेदना होने लगी। फिर मैंने श्वास-रहित ध्यान करना आरम्भ किया। मेरे पेट को वात छुरे की तरह छेदने लगी। काया में अत्यधिक ताप होने लगा। देवता भी मुझे देखकर कहते थे—'श्रमण गोतम मर गया।' कोई देवता कहते थे 'श्रमण गोतम मरा नहीं है, न मरेगा, अर्हत् का तो इस प्रकार का विहार होता ही है।" [1]

"तब मैंने सोचा—क्यों न मैं आहार को बिल्कुल ही छोड़ देना स्वीकार करूं। तब देवताओं ने मेरे पास आकर कहा—मित्र! यदि तुम आहार का बिल्कुल छोड़ना स्वीकार करोगे तो हम तुम्हारे रोम-कूपों द्वारा दिव्य ओज डाल देंगे, उसीसे तुम निर्वाह करोगे। मैंने सोचा—इस प्रकार तो मेरा तप मृषा होगा। मैंने उन देवताओं का प्रत्याख्यान किया—'रहने दो'। और मैं थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करने लगा। केवल मुट्ठीभर मूंग की दाल या अरहर की दाल का जूस (यूस) लेता था। उस समय मेरा शरीर दुर्बलता की चरम सीमा को पहुंच गया था। पुरानी शाल की कड़ियों के समान मेरी पंसुलियां हो गई थीं, ऊंट के पैर के समान मेरा कूल्हा हो गया था। यदि मैं पेट की खाल को मसलता था तो पीठ के कांटों को पकड़ लेता था और पीठ के कांटों को मसलता तो पेट की खाल को पकड़ लेता था। यदि मैं मल-मूत्र करने जाता तो वहीं बेहोश होकर गिर जाता था। काया को हाथ से रगड़ता तो सड़ी जड़वाले रोम झड़ पड़ते थे। लोग मुझे देखकर कहते 'श्रमण गोतम काला है।' कोई मनुष्य कहते, 'श्रमण गोतम काला नहीं है, श्याम है।' कुछ कहते 'श्रमण गोतम न काला है, न श्याम, वह मंगुर-वर्ण है।' मेरा स्वच्छ, गौर वर्ण सर्वथा नष्ट हो गया था।"[2]

---

१. अग्निवेष नामक जैन पंडित से भगवान् ने यह कहा। महासच्चक-सुत्त (मज्झिम. १।४।६)।

२. महासच्चक-सुत्त (मज्झिम. १।४।६), मिलाइये बोधिराजकुमार-सुत्त (मज्झिम. २।४।५) भी।

"तब मैंने सोचा ! अतीत काल में जिन किन्हीं श्रमरण-ब्राह्मणों ने घोर दुःख और तीव्र वेदनाएं झेली होंगीं, वह इसी हद तक झेली होंगीं, इससे अधिक नहीं। लेकिन उस दुष्कर तपस्या से मैंने परम तत्त्व को न पाया, अलमार्यज्ञानदर्शन मुझे न मिला। मैंने सोचा—क्या बोधि के लिए कोई दूसरा मार्ग है ?"

"मुझे स्मरण आया—मैंने पिता शुद्धोदन शाक्य के खेत पर जामुन की ठंडी छाया में अकुशल-धर्मों से चित्त को हटाकर प्रथम ध्यान को प्राप्त किया था, शायद वह मार्ग बोधि का हो ? परन्तु इस प्रकार अत्यन्त कृश और दुर्बल काया से तो वह मिलना सुकर नहीं है। क्यों न मैं स्थूल आहार दाल-भात को ग्रहण करूं। मैं दाल-भात ग्रहण करने लगा। उस समय मेरे पास पांच भिक्षु इस आशा से रहा करते थे कि श्रमण गोतम जिस धर्म को प्राप्त करेगा, उसे हमें भी बतलायेगा। परन्तु जब मैं दाल-भात ग्रहण करने लगा तो उन्होंने सोचा—श्रमण गोतम संग्रही हो गया है, तपस्या से विमुख हो गया है। उदासीन होकर वे मुझे छोड़कर चले गए।" [1]

"स्थूल भोजन से मुझमें शक्ति वापस आई और मैं प्रथम ध्यान के सुख को प्राप्त कर विहरने लगा। क्रमशः ध्यान की द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अवस्थाओं को मैंने प्राप्त किया। मैंने अपने अनेक पूर्व-जन्मों को स्मरण किया। प्राणियों के जन्म-मरण का ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ। उन्हें नाना गतियों में आते-जाते मैंने देखा। मैंने साक्षात्कार किया—'यह दुःख है', 'यह दुःख-समुदय है', 'यह दुःख-निरोध है' और यह 'दुःख-निरोध का मार्ग' है। मैंने अनुभव किया—मेरी अविद्या चली गई है, विद्या प्राप्त हुई है, तम नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ है। मेरा चित्त विमुक्त हो गया, जन्म समाप्त हुआ, ब्रह्मचर्यवास पूरा हुआ। करना था सो कर लिया, अब आगे कुछ करने को नहीं है।"[2]

"अनेक जन्मों तक निरन्तर इस संसार में दौड़ता रहा। गृहकारक को खोजते-खोजते पुनः-पुनः दुःखमय जन्मों में पड़ता रहा। हे गृह-

---

१.-२. उपर्युक्त के समान।

कारक ! अब मैंने तुझे देख लिया। अब फिर तू घर नहीं बना सकेगा। तेरी सभी कड़ियां भग्न हो गईं। गृह का शिखर भी निर्बल हो गया। संस्कार-रहित चित्त से तृष्णा का क्षय हो गया।"[१]

"उरुवेला में इच्छानुसार विहार कर मैं वाराणसी की ओर चल पड़ा। क्रमशः यात्रा करते हुए मैं वाराणसी में ऋषिपतन मृगदाव में पहुंचा, जहां पंचवर्गीय भिक्षु थे। पंचवर्गीय भिक्षुओं ने सोचा—साधना-भ्रष्ट श्रमण गोतम आ रहा है। हम इसे अभिवादन नहीं करेंगे, इसके पात्र-चीवर को आगे बढ़कर नहीं लेंगे। जैसे-जैसे मैं पंचवर्गीय भिक्षुओं के समीप आता गया, वे अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर न रह सके। एक ने आसन बिछाया, दूसरे ने पैर धोने का जल दिया, तीसरे ने पैर का पीढ़ा पास लाकर रख दिया। मैं बिछे आसन पर बैठ गया और पैर धोये। पंचवर्गीय भिक्षुओं से मैंने कहा—भिक्षुओ ! तथागत साधना-भ्रष्ट नहीं हैं। वह सम्यक् सम्बुद्ध हैं। उन्हें मित्र (आयुष्मान्) कहकर मत पुकारो। वे तथागत अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध हैं। मैंने अमृत को पाया है। मैं तुम्हें इसका उपदेश करता हूं। तुम भी उपदेशानुसार आचरण कर इसी जन्म में उसका साक्षात्कार कर विहरोगे। वहां जब मैं दो भिक्षुओं को उपदेश करता था, तो तीन भिक्षु भिक्षा के लिए जाते थे। तीन भिक्षु भिक्षाचार करके जो लाते थे, उससे हम छहों व्यक्ति निर्वाह करते थे। जब तीन भिक्षुओं को मैं उपदेश करता था, तो दो भिक्षु भिक्षा के लिए जाते थे।"[२]

"दो भिक्षु कोलित (मोग्गल्लान) और उपतिष्य (सारिपुत्र) मेरे प्रधान शिष्य हैं। आनन्द मेरा सेवक-शिष्य है, जो सदा मेरे पास रहता है। क्षेमा और उत्पलवर्णा मेरी भिक्षुणी-शिष्याओं में प्रधान हैं। चित्र और हस्तावलक मेरे प्रधान गृहस्थ-शिष्य (उपासक) हैं। नन्दमाता और उत्तरा मेरी दो प्रधान गृहस्थ-शिष्याएं (उपासिकाएं) हैं।"[३]

---

१. धम्मपद ११। ८-९।
२. अरियपरियेसन-सुत्त (मज्झिम. १।३।६)।
३. बुद्धवंस, पृष्ठ ७२।

"चलो आनन्द ! जहां अम्बलट्ठिका है, वहां चलें।"

"चलो आनन्द ! जहां पाटलिग्राम है, वहां चलें।"

"आओ आनन्द ! जहां कोटि-ग्राम है, वहां चलें।"

"आओ आनन्द ! जहां नादिका है, वहां चलें।"

"भिक्षुओ ! तुम वैशाली के चारों ओर वर्षावास करो। मैं यहीं वेलुव-ग्राम में वास करूंगा।"

"आनन्द ! मैं वृद्ध, वयः प्राप्त हूं। अस्सी वर्ष की मेरी उम्र है। आनन्द ! जैसे पुरानी गाड़ी बांध-बूंध कर चलती है, ऐसे ही तथागत का शरीर बांध-बूंधकर चल रहा है। इसलिए आनन्द ! तुम आत्म-शरण, आत्मदीप होकर विहरो।"

"आनन्द ! आसन उठाओ ! जहाँ चापाल चैत्य है, वहाँ दिन के ध्यान के लिए चलेंगे।"

"आओ आनन्द ! जहां महावन-कूटागारशाला है, वहां चलें।"

"भिक्षुओ ! अचिर काल में ही तथागत का परिनिर्वाण होगा। आज से तीन मास बाद तथागत परिनिर्वाण प्राप्त करेंगे। मेरा आयु परि-पक्व हो गया, मेरा जीवन थोड़ा है। तुम्हें छोड़कर जाऊंगा, मैंने अपने करने योग्य काम को कर लिया है। भिक्षुओ ! निरालस, सावधान, सुशील होओ। संकल्प का अच्छी तरह समाधान कर अपने चित्त की रक्षा करो।"

"आनन्द ! तथागत का यह अन्तिम वैशाली-दर्शन होगा।"

"आओ आनन्द ! जहाँ भण्ड गांव है, वहाँ चलें।"

"आओ आनन्द ! जहां आम्र गांव है, वहां चलें।"

"आनन्द ! जम्बु ग्राम चलें।"

"आनन्द ! भोगनगर चलें।"

"आओ आनन्द ! जहां कुसिनारा है, वहां चलें।"

"आनन्द ! मेरे लिए चौपेती संघाटी बिछा दो। मैं थक गया हूं, बैठूंगा।"

"आनन्द ! मेरे लिए पानी लाओ। प्यासा हूं, आनन्द ! पानी पीऊंगा।"

"आनन्द ! आज रात के पिछले पहर कुसिनारा के उपवत्तन नामक मल्लों के शाल-वन में जुड़वाँ शाल वृक्षों के नीचे तथागत का परिनिर्वाण होगा। आओ आनन्द ! जहां ककुत्था नदी है, वहां चलें।"

"चौपेती संघाटी बिछा दो, लेटूंगा।"

"आओ, आनन्द ! जहां हिरण्यवती नदी का दूसरा किनारा है, वहां कुसिनारा के मल्लों का शालवन है। वहां चलें।"

"आनन्द ! जुड़वां शालों के बीच में उत्तर की ओर सिरहाना कर चारपाई बिछा दो। थका हूं, आनन्द ! लेटूंगा।"

"आनन्द ! शायद तुम्हें ऐसा हो कि हमारे शास्ता चले गए, अब हमारे शास्ता नहीं रहे। ऐसा मत समझना, आनन्द ! मैंने जो धर्म और विनय उपदेश किये हैं, वे ही मेरे बाद तुम्हारे शास्ता होंगे।"

"हन्त भिक्षुओ ! अब तुम्हें कहता हूं—संस्कार नाशवान् हैं। अप्रमाद से (लक्ष्य) सम्पादन करो।"[१]

यह तथागत का अन्तिम वचन था।

: ३ :

बुद्ध की मानवता

भगवान् बुद्ध देव और मनुष्यों के शास्ता थे, देवातिदेव थे। परन्तु सबसे पहले वह मनुष्य थे। मनुष्य बढ़कर देवता बनता है—यह प्राचीन मान्यता थी। आज भी हम मनुष्यत्व के ऊपर देवत्व की बात कहते हैं। परन्तु तथागत ने इस क्रम को उलट दिया। उन्होंने कहा, "यह जो मानुषत्व है, वही देवताओं का सुगति प्राप्त करना कहलाता है।" "मनुस्सत्तं खो भिक्खवे देवानं सुगतिगमनसंखातं।" देवता जब सुगति प्राप्त करता है, तब वह मनुष्य बनता है। देवताओं में विलास है। राग, द्वेष, ईर्ष्या और मोह भी वहां है। निर्वाण की साधना वहां नहीं हो सकती। इसके लिए देवताओं को मनुष्य बनना पड़ता है। मनुष्यों में ही बुद्ध-पुरुष का

---

१. महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ. २। ३)

आविर्भाव होता है, जिसको देवता नमस्कार करते हैं। अतः मनुष्य-धर्म देवता-धर्म से उच्चतर है, जैसे कि विराग भोग से महत्तर है।

मानवता-धर्म का उपदेश देनेवाले भगवान् तथागत स्वयं मानवता के मूर्तिमान् रूप थे। यहां हम उनके जीवन से संबंधित कुछ प्रसंगों और घटनाओं का उल्लेख करेंगे, जिनसे उनके व्यक्तित्व में पैठी हुई गहरी मानवता के कुछ दर्शन हमें होंगे।

भगवान् का परिनिर्वाण होनेवाला है। रात का पिछला पहर है। भिक्षु भगवान् की शैया को घेरे हुए बैठे हैं। भिक्षु-संघ को भगवान् अन्तिम उपदेश दे रहे हैं। शास्ता कह रहे हैं, "भिक्षुओ ! बुद्ध, धर्म और संघ के सम्बन्ध में यदि किसी भिक्षु को कुछ शंका हो तो पूछ लो ! पीछे अफसोस मत करना—शास्ता हमारे सम्मुख थे, किन्तु हम भगवान् से कुछ पूछ न सके।" कोई शिष्य नहीं बोलता, सब मौन हैं। तीन बार भगवान् कहते हैं, किन्तु कोई भिक्षु पूछने को नहीं उठता। भगवान् को शंका हो जाती है कि कहीं शास्ता के गौरव का विचार कर तो शिष्य पूछने में संकोच नहीं कर रहे। अतः कारुणिक शास्ता फिर कहते हैं, "शायद भिक्षुओ ! तुम शास्ता के गौरव के कारण नहीं पूछ रहे। तो भिक्षुओ ! जैसे मित्र मित्र से पूछता है, वैसे तुम मुझसे पूछो।" "सहायको पि भिक्खवे सहायकस्स आरोचेतूति।" शास्ता शिष्यों की समान भूमि पर आ जाते हैं। उन्हें चिन्ता है कि कहीं उनका विशाल लोकोत्तर व्यक्तित्व शिष्यों के कल्याण में बाधक न बने। अतः वह उनके सखा बनते हैं, ताकि शिष्य निःसंकोच भाव से उनसे पूछ सकें। धर्मस्वामी की यह विनम्रता मनुष्य-धर्म की आधार-भूमि है। भगवान् बुद्ध ने अपने को भिक्षुओं का 'कल्याण-मित्र' कहा है, जो उनकी मानवीय सहृदयता और विनम्रता को सूचित करता है। वे अपने शिष्यों के शास्ता हैं और उससे बढ़कर वह उनके मित्र या 'कल्याण-मित्र' हैं। "आनन्द ! मुझ कल्याण-मित्र को पाकर जन्म-धर्मा प्राणी जन्म से विमुक्त हो जाते हैं।" "ममं हि आनन्द कल्याणमित्तं आगम्म जातिधम्मा सत्ता जातिया परिमुच्चन्तीति।"

एक दूसरा दृश्य भी भगवान् के परिनिर्वाण के समय का है। चुन्द

कर्मारपुत्र (धातुकार) के यहां भगवान् ने अन्तिम भोजन किया था। उसके बाद ही भगवान् को खून गिरने की कड़ी बीमारी उत्पन्न हो गई थी, जो उनके शरीरान्त का कारण बनी। तथागत को चुन्द कर्मारपुत्र के हृदय का बड़ा ख्याल था। भक्त उपासक को यह अफसोस हो सकता था कि उसका भोजन करके ही भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। इसलिए शरीर छोड़ने से पूर्व भगवान् आनन्द को आदेश देते हैं, "आनन्द ! चुन्द कर्मारपुत्र की इस चिन्ता को तू दूर करना और कहना, आयुष्मन् ! लाभ है तुझे, तूने बड़ा लाभ कमाया कि तेरे भोजन को कर तथागत परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। आनन्द ! चुन्द कर्मारपुत्र की चिन्ता को तू दूर करना।" जिसके हृदय में अगाध करुणा का अधिवास था, वह ऐसा क्यों न कहता ?

कितना क्रियाशील था तथागत का जीवन ! जिस रात को उनका परिनिर्वाण हुआ और जब वह रुग्ण और क्लान्त शैया पर पड़े हुए थे, उन्होंने रात के पहले पहर में कुसिनारा (कुशीनगर) के मल्लों को उपदेश दिया, बीच के पहर में सुभद्र को और पिछले पहर में भिक्षु-संघ को उपदेश देकर बहुत प्रातः ही महापरिनिर्वाण में प्रवेश किया। यह सुभद्र कौन था, जिसे मध्य रात्रि में उपदेश देने के लिए भगवान् ने उस अवस्था में समय निकाल लिया ? सुभद्र एक परिव्राजक था, जो अपनी शंकाओं को लिये हुए उस विषम घड़ी में भगवान् गौतम बुद्ध से मिलने आ निकला। आनन्द ने उसे यह कहकर ठीक ही रोक दिया, "सुभद्र! तथागत को तकलीफ मत दो। भगवान् थके हुए हैं।" भगवान् ने आनन्द की बात सुन ली। उन्होंने आनन्द से कहा, "नहीं आनन्द ! सुभद्र को मत मना करो, सुभद्र को तथागत का दर्शन पाने दो। वह परम ज्ञान की इच्छा से पूछना चाहता है, तकलीफ देने की उसकी इच्छा नहीं है। पूछने पर जो मैं उससे कहूंगा, उसे वह जल्दी ही जान लेगा।" मध्य रात्रि में, उस अवस्था में, सुभद्र को भी तथागत से उपदेश सुनने का सौभाग्य मिला। अधिकारी शिष्य को उपदेश करने के लिए तथागत के पास कोई असमय न था।

वह एक बड़ी दुखियारी स्त्री थी। पति, पुत्र, परिवार सब उसका

नष्ट हो गया था। शोकातिरेक में वह पागल हुई फिरती थी। कपड़े पहनने का होश उसे कहां था ? वह नंगी ही फिरती थी। नाम उसका पटाचारा था। एक दिन घूमती हुई जेतवन आराम में ही आ निकली, जहां भगवान् ठहरे हुए थे। सीधी विहार की ओर आती हुई उस नग्न उन्मत्त स्त्री को देख पुरुषों ने कहा, "यह पागल है, इसे इधर मत आने दो।" परन्तु भगवान् ने उन्हें रोकते हुए कहा, "इसे मत रोको।" जैसे ही स्त्री समीप आई, भगवान् ने कहा, "भगिनि! स्मृति लाभ कर।" स्त्री को कुछ होश आया, लोगों ने उसपर कपड़े डाल दिये, जिन्हें उसने ओढ़ लिया। स्त्री फूट-फूटकर रोने लगी। भगवान् ने कहा, "पटाचारे ! चिन्ता मत कर। शरण देने में समर्थ व्यक्ति के पास ही तू आ गई है।" भगवान् ने अपने उपदेशामृत से उसके शोक को दूर किया और वह एक प्रमुख साधिका हुई। करुणा, विशेषतः स्त्री-जाति के प्रति करुणा, जिसके जीवन को भगवान् पुरुष के जीवन से अधिक दुःखमय मानते थे, तथागत के स्वभाव की एक प्रमुख विशेषता थी।

तथागत ने अपने व्यक्तित्व को धर्म के रूप में खो दिया था। यदि प्रसेनजित् तथागत के प्रति अपूर्व सत्कार प्रदर्शित करता था, यदि अनेक देश और विदेश के लोग तथागत की पूजा करते थे, तो इसका कारण स्वयं भगवान् बुद्ध की मान्यता के अनुसार धर्म ही था। तथागत उत्पन्न हों या न हों, धर्म-नियामता फिर भी रहती है, ऐसा उनका कहना था। इसलिए अपने बाद धर्म की शरण में ही उन्होंने भिक्षु-संघ को छोड़ा था। परिनिर्वाण प्राप्त करते समय उन्होंने भावनापूर्ण शब्दों में आनन्द से कहा था "आनन्द ! शायद तुमको ऐसा हो कि हमारे शास्ता तो चले गये। अब हमारे शास्ता नहीं हैं। आनन्द ! ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म और उपदेश किये हैं, वही मेरे बाद तुम्हारे शास्ता होंगे।" भगवान् नहीं चाहते थे कि उनके शिष्य उनसे चिपटे रहें। उनको 'आत्मदीप', 'आत्म शरण' बनने का उपदेश था। इसलिए जब आनन्द ने भगवान् के परिनिर्वाण के समय उनसे पूछा कि 'तथागत के शरीर के प्रति हम क्या करेंगे' तो उन्होंने यही उत्तर दिया, 'आनन्द ! तथागत की शरीर पूजा से तुम बेपरवा रहो।' 'अब्यावटा तुम्हे आनन्द होथ तथागतस्स

सरीरपूजाय'। तथागत अपनी शरीर-पूजा नहीं चाहते। वह चाहते हैं कि हम सच्चे अर्थ में लगें। तथागत ने अपने व्यक्तित्व को धर्म में खो दिया। यह उनकी अनासक्ति थी। परन्तु जब उन्होंने धर्म को बेड़े के समान तरने के लिए, न कि पकड़ रखने के लिए, बतलाया, तब तो उन्होंने धर्म से भी आसक्ति छोड़ देने का उपदेश दिया। संघ धर्म की शरण में छोड़ा गया और धर्म से बुद्ध एकाकार किये गए। बाद में प्रयोजन पूरा हो जाने के बाद धर्म को भी छोड़ देने का आदेश देकर भगवान् ने उस अनासक्ति-योग का उपदेश दिया है, जो इस लोक की सीमा के पार ही देखा जा सकता है।

महापुरुषों के जीवन-काल में ही उनके दैवीकरण की प्रवृत्ति प्रायः दिखाई पड़ने लगती है। भगवान् इसके प्रति बड़े सचेत थे। वह नहीं चाहते थे कि लोकोत्तर दैवी पुरुष की तरह उनकी पूजा हो या गुरुवाद उनके धर्म में फैले। इसलिए जब एक बार उनके महाप्रज्ञ शिष्य धर्म-सेनापति ने उनसे कहा, "भन्ते! मेरा ऐसा विश्वास है कि संबोधि में भगवान् से बढ़कर कोई दूसरा श्रमण या ब्राह्मण न हुआ, न होगा, न इस समय है।" तो भगवान् ने उल्टे हाथ लेते हुए सारिपुत्र से कहा, "सारिपुत्र! तूने बहुत उदार वाणी कही। बिल्कुल सिंहनाद ही किया। सारिपुत्र! अतीतकाल में जो सब ज्ञानी पुरुष हुए हैं, क्या तूने उन सबको अपने चित्त से जान लिया है!" धीमे स्वर में सारिपुत्र ने उत्तर दिया, "नहीं भन्ते!" इसी प्रकार वर्तमान और भविष्य के ज्ञानियों के संबंध में पूछे जाने पर भी सारिपुत्र को 'नहीं भन्ते!' कहना पड़ा। "तो सारिपुत्र! जब तेरा अतीत, वर्तमान और भविष्य के ज्ञानियों के संबंध में ज्ञान नहीं है, तो तूने यह उदार वाणी क्यों कही?"

इस संबंध में एक महत्वपूर्ण प्रसंग और है। वक्कलि नामक उनका एक अनुरक्त भिक्षु-शिष्य था। एक बार वक्कलि बीमार पड़ा। उसने अपने एक साथी भिक्षु द्वारा इच्छा प्रकट की कि वह भगवान् के दर्शन करना चाहता है। भगवान् उसकी इच्छा को पूरी करनेके लिए उसके पास गये। दूर से भगवान् को आता देखकर वक्कलि उनके सम्मानार्थ एवं उनको आसन देने के लिए चारपाई से उठने की चेष्टा

करने लगा। भगवान् ने करुणापूर्वक उसे रोकते हुए कहा कि अलग आसन तैयार है, उसे हिलने-डुलने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् बिछे आसन पर बैठ गये। वक्कलि ने भगवान् की वन्दना करते हुए उनसे निवेदन किया कि उसे उनके दर्शन की बड़ी इच्छा थी, जिसे कृपापूर्वक उन्होंने पूरा कर दिया है। भगवान् ने कोमल शब्दों में वक्कलि से कहा, "शांत वक्कलि ! जैसी तेरी गन्दी काया है, वैसी ही मेरी काया है। वक्कलि ! इस गन्दी काया को देखने से क्या लाभ ? वक्कलि! जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है, जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है।" भगवान् बुद्ध का अपने शरीर के संबंध में अपने शिष्य से यह कहना कि 'इस गन्दी काया को देखने से क्या लाभ ?' (किमिना पूतिकायेन दिट्ठेन), एक ऐसी साहसिक वाणी है, जिसे कोई धर्मशास्ता गुरु अपने शिष्य या शिष्यों से आज तक नहीं कह सका है। रूप की आसक्ति तथागत की बिलकुल नष्ट हो गई थी। और उसे दूर किये बिना कोई बुद्ध-शिष्य नहीं बन सकता।

भगवान् बुद्ध श्रमण थे, परन्तु गृहस्थों के प्रति सहानुभूति से रहित नहीं थे। कोलिय-दुहिता सुप्रवासा ने, जो गर्भ की असह्य वेदना से पीड़ित थी, जब अपने पति के द्वारा भगवान् के चरणों में अपना प्रणाम अर्पित करवाया था, तो भगवान् ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा था, "कोलिय-पुत्री सुप्रवासा सुखी हो जाय, चंगी हो जाय। सुखी और चंगी होकर वह बिना किसी कष्ट के पुत्र प्रसव करे।" इसी प्रकार ब्राह्मणों के साथ भी, जैसे कि विश्व के सब प्राणियों के साथ, भगवान् को पूरी सहानुभूति थी। बावरि ब्राह्मण के एक शिष्य ने जब अपने गुरु की ओर से भगवान् के चरणों में प्रणाम अर्पित किया तो भगवान् ने आशीर्वाद देते हुए कहा "शिष्योंसहित बावरि ब्राह्मण सुखी हो। माणवक ! तुम भी सुखी हो, चिरंजीवी हो।" इन आशीर्वचनों में झांकती हुई तथागत की करुणा के मानवीय स्वरूप को हम स्पष्टतः देख सकते हैं।

तथागत स्वागतवादी थे। छोटा हो या बड़ा, जो भी जिज्ञासु उनके पास पहुंचता था, उससे वह कहते थे, "आओ ! स्वागत !", ("एहि सागत")। ब्राह्मण सोणदण्ड (स्वर्णदण्ड) उनकी इस विनम्रता से बहुत

प्रभावित हुआ था। उसने ही हमें यह बताया है कि श्रमरण गौतम सब से "आओ स्वागत" कहनेवाले हैं। "समणो खलु भो गोतमो एहि-सागतवादी।" एक बार जब भिक्षुणी सुन्दरी भगवान् के दर्शनार्थ श्रावस्ती गई तो उसका स्वागत करते हुए भगवान् ने उससे कहा था, "आ कल्याणी! तेरा स्वागत है।" "तस्सा ते सागतं भद्दे।" इसी प्रकार महाकाश्यप से भी प्रथम बार मिलने पर भगवान् ने कहा था, "आओ स्वागत!" ऐसा ही साक्ष्य देते हुए बुद्ध के कवि-शिष्य स्थविर वंगीश ने कहा है, "बुद्ध के पास मेरा स्वागत हुआ।"

बुद्ध शिष्य-वत्सल थे और अपने शिष्यों का सम्मान करते थे। भगवान् जब अपनी अन्तिम यात्रा में पावा और कुसिनारा के बीच जा रहे थे तो उधर से आते हुए पुक्कुस मल्लपुत्र नामक व्यापारी से उनकी भेंट हुई, जिसने श्रद्धापूर्वक भगवान् को एक इंगुर वर्ण का दुशाला अर्पित किया। परन्तु भगवान् उसे अकेले कैसे ओढ़ते? आनन्द को सम्मानित करना चाहते थे। उन्होंने पुक्कुस से कहा, "तो पुक्कुस! दुशाले के एक भाग को मुझे उढ़ा दे, दूसरे को आनन्द को।" आनन्द को इससे अधिक कृतार्थता क्या हो सकती थी? यह उल्लेखनीय है कि जैसे ही पुक्कुस मल्लपुत्र चला गया, आनन्द ने दुशाले के अपने भाग को भी भगवान् के शरीर पर उढ़ा दिया।

अन्य अवसरों पर भगवान् ने अपने दूसरे शिष्यों को भी उचित सम्मान दिये। जब तथागत की वृद्धावस्था में उनके लिए एक नियत शरीर-सेवक की आवश्यकता पड़ी, तो सारिपुत्र ने अपने को इस काम के लिए अर्पित किया था, जिसे तथागत ने यह कह कर स्वीकार नहीं किया कि सारिपुत्र का धर्मोपदेश तथागत के समान ही गम्भीर होता है और जिस दिशा में सारिपुत्र जाते हैं, उस दिशा में फिर उन्हें जाने की आवश्यकता नहीं रहती, इसलिए ऐसे ज्ञानी से वह सेवा का काम नहीं ले सकते। जब अपने जीवन के अन्तिम समय में सारिपुत्र ने शास्ता से निर्वाण-प्राप्ति के लिए विदा मांगी तो स्वयं शास्ता गन्ध-कुटी से बाहर निकलकर आये और अपने मुख से बार-बार उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हें विदाई दी। शास्ता से अद्वितीय सम्मान प्राप्त

करनेवालों में आर्य महाकाश्यप सदा स्मृत रहेंगे। उन्हें तो शास्ता ने जैसे अपना वस्त्र-बदल मित्र ही बना लिया। अपना चीवर महाकाश्यप को दिया और महाकाश्यप का स्वयं पहना और यह सब इस ढंग से कि मानो कुछ कर ही नहीं रहे हैं। रास्ते में एक जगह विश्राम के लिए बैठे थे कि महाकाश्यप के चीवर को टटोलकर कहने लगे कि यह बहुत मुलायम है। झट महाकाश्यप ने अपने उस वस्त्र को बुद्ध से लेने की प्रार्थना की। "परन्तु तुम क्या पहनोगे ?" "मैं बुद्धों के द्वारा दिये गये वस्त्र को पहनूँगा, यदि वह मुझे मिलेगा।" "परन्तु महाकाश्यप ! मेरा वस्त्र तो जीर्ण सन का है। प्राय: फट चुका है।" महाकाश्यप ने देर नहीं की और गुरु- शिष्य ने अपने वस्त्रों की अदल-बदल की। महाकाश्यप के लिए यह जीवन-पर्यन्त का गौरव बन गया और भिक्षु-संघ उन्हें और भी अधिक सम्मान की दृष्टि से देखने लगा, क्योंकि शास्ता ने अपने वस्त्र को पहनने योग्य केवल उन्हें ही समझा।

योग्य जिज्ञासुओं के प्रति तथागत की विशेष अनुकम्पा थी। कई बार तो उन्होंने दूर तक जाकर ऐसे साधकों की अगवानी की। यह सौभाग्य महाकाश्यप को तथा अन्य कई भिक्षुओं को मिला था। कहा गया है कि महाकप्पिन के स्वागतार्थ तो भगवान् चन्द्रभागा (चिनाव) नदी के तट तक गये थे। यह भिक्षु कुक्कुटवती नगरी के निवासी थे, जो वर्तमान काबुल नदी के आस-पास के प्रदेश में थी। बुद्ध के आविर्भाव का समाचार सुनकर मध्य-देश की ओर चल पड़े थे। बुद्ध ने अपने ज्ञान से इसे जाना और चन्द्रभागा नदी के तट पर जाकर उनका स्वागत किया।

योग्य भिक्षुओं और भिक्षुणियों की ही नहीं, गृहस्थ स्त्री-पुरुषों की भी भगवान् ने कई अवसरों पर उन्मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। विशेषत: गृहस्थों में नकुल-माता और नकुल-पिता उनसे प्रशंसा पानेवालों में मुख्य थे। इन वृद्ध दम्पती ने कभी एक दूसरे पर अपने जीवन भर क्रोध नहीं किया था। कई भिक्षुणियों ने अपनेको "बुद्ध की औरस दुहिता" कहकर पुकारा है, जिससे पता चलता है कि तथागत की करुणा में मातृ-जाति का अंश कुछ कम नहीं था। स्त्रियों को प्रव्रज्या का अधिकार भी इसीलिये मिल सका। कुक्कुटवती नगरी का राजा महाकप्पिन जब

संवेगापन्न होकर बुद्ध से मिलने के लिए निकल पड़ा था, तो उसकी पत्नी अनोजा ने यही कहकर उसका अनुसरण किया था, "बुद्ध का आविर्भाव केवल पुरुषों के लिए ही नहीं हुआ होगा, बल्कि स्त्रियों के लिए भी।" इसी मर्म को समझकर भद्रा कापिलायिनी अपने पति (महाकाश्यप) के साथ बुद्ध के दर्शनों के लिए चल पड़ी थी।

गलती करनेवालों के प्रति भी करुणा और अनुकम्पा का भाव दिखाना तथागत के लिए कुछ अधिक न था। एक बार की बात है कि वेरंजा (मथुरा और सोरों के बीच में एक स्थान) के निवासी एक ब्राह्मण ने भगवान् को वेरंजा में वर्षावास करने का निमंत्रण दिया। भगवान् वहां गये, परन्तु वह ब्राह्मण बहुधन्धी था और उसने भगवान् की कुछ सुध-बुध नहीं ली। भगवान् बुद्ध को बहुत कष्ट हुआ। उन्हें तीन मास तक कुछ कुटी हुई जौ ही प्रतिदिन खानी पड़ी, क्योंकि उस समय वेरंजा में अकाल पड़ रहा था और यह जौ भी बुद्ध और उनके शिष्यों को उत्तरापथ के घोड़ों के व्यापारियों के यहां से मिलती थी, जो उस समय वहां वर्षा के कारण पड़ाव डाले हुए थे। इतना होने पर भी वर्षावास की समाप्ति पर भगवान् बुद्ध अन्यत्र जाने से पूर्व वेरंजक ब्राह्मण के पास जाकर उसे आशीर्वाद देना नहीं भूले। ब्राह्मण बहुत लज्जित हुआ, उसने क्षमा मांगी। भगवान् ने उसपर अनुकम्पा करते हुए उसके यहाँ भोजन किया और उसे आशीर्वाद देते हुए विदाई ली। इससे कुछ विपरीत, परन्तु मानवता से उतना ही परिपूर्ण, बुद्ध-जीवन का एक दूसरा प्रसंग लीजिये। भद्दिय (भदरिया, भागलपुर के समीप, बिहार में) में एक बार भगवान् विचरते हुए गये, और वहां का मेण्डक गृहपति चाहता था कि जबतक भगवान् भद्दिय में रहें, उसे ही उनकी नित्य सेवा का अवसर मिले। ऐसी उसने भगवान् से प्रार्थना भी की। कहा गया है कि तथागत उसे बिना सूचना दिये ही वहां से एक दिन चले गये! जिसने कुछ सुध-बुध नहीं ली, उससे विदाई लेने और उसके यहां भोजन-कर अनुगृहीत करने गये और जो नित्य सेवा करना चाहता था, उसे बिना सूचना दिये ही चल दिये! तथागतों के स्वभाव की गम्भीरता की थाह नहीं ली जा सकती!

बुद्ध बहुजनहितवादी थे। अपने जीवन को बहुतों के हित के लिए मानते थे। उनके जीवन की छोटी-से-छोटी घटना में यह भावना बिंधी मिलेगी। एक बार की बात है कि भगवान् कुसिनारा में गये, जहां के एक मल्ल सरदार ने, जिसका नाम रोज था, भगवान् को अपने यहां भोजन के लिए निमंत्रित किया और उनसे प्रार्थना की, "भन्ते ! अच्छा हो कि जबतक आप यहाँ हैं, आप और अन्य भिक्षु मेरे यहां ही भोजन, वस्त्र, आसन आदि ग्रहण करें, दूसरों के यहां नहीं।" बुद्ध ने उसे उत्तर दिया, "रोज ! तेरी तरह जिन लोगों ने धर्म को अपूर्ण ज्ञान और अपूर्ण दर्शन से देखा है, उन्हें ही यह होता है कि भगवान् हमारे यहां ही भोजन, वस्त्र, आसन आदि ग्रहण करें, दूसरों के यहां नहीं। तो रोज, हम तेरा भी ग्रहण करेंगे, दूसरों का भी।" "तेन हि रोज तव चेव पटिग्गहस्सन्ति अञ्ञेसं चाति।"

पालि-परम्परा के अनुसार बुद्ध ने पैंतालीस वर्ष तक चारिकाएं करते हुए धर्मोपदेश किया, और संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों की परम्परा के अनुसार ४९ वर्ष तक। लङ्कावतार-सूत्र में बुद्ध भगवान् कहते हैं, "इन उनचास वर्षों में मैंने धर्म पर एक शब्द भी भाषित नहीं किया है।" बड़ी आश्चर्यजनक बात ! बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्यों और भावी जनता पर अनुकम्पा करते हुए इतना कुछ कहा कि वह त्रिपिटक जैसे विशाल साहित्य में भरा पड़ा है। फिर भी वह कहते हैं—मैंने धर्म पर एक शब्द भी नहीं कहा है ! यह तथागत की असंगता का सूचक है, उनकी पूर्ण निर्लेपता का प्रमाण है। पालि महापरिनिब्बाण-सुत्त में भी हम देखते हैं कि उनके महापरिनिर्वाण के अवसर पर जब आनन्द उनसे प्रार्थना करते हैं कि वह संघ के लिए कुछ कहें, तो तथागत कहते हैं कि उन्हें कभी यह धारणा ही नहीं हुई कि संघ को उन्होंने स्थापित किया है या कि संघ उनके सहारे से है, वह संघ के लिए क्या कहेंगे? चाहे इसे हम तथागत की लोकोत्तर विनम्रता कहें, चाहे अनासक्ति, चाहे महायानिक पारिभाषिक शब्दों में उनकी 'अनाभोग चर्या', यह बुद्ध के जीवन की एक भारी विशेषता है और उनकी सम्पूर्ण मानवता इसीसे निकली हुई है।

बुद्ध के स्वभाव और उनके जीवन की घटनाओं पर जितना हम विचार करें, उतना ही अधिक हमें उनमें अन्तर्निविष्ट उनकी मानवता के दर्शन होते हैं।[1] बुद्ध के जीवन की कोमलता लोकोत्तर थी। उनकी वाणी में अपूर्व श्लक्ष्णता थी, जो सबको अपनी ओर खींचती थी। क्रोध-पूर्ण शब्द कभी उनके मुख से नहीं निकले थे। वह एक ऐसे पुरुष थे, जिनकी भौंहें कभी टेढ़ी होती हुई नहीं देखी गई थीं। वह 'अब्भाकुटिको' थे। संकल्प उनके वश में थे। वह मनुष्य थे, परन्तु मनुष्य की दुर्बलताओं और असंगतियों से ऊपर उठ चुके थे। इसीलिए वह पूर्ण पुरुष थे। न हम उन्हें अन्ततः मनुष्य कह सकते हैं और न देवता। बुद्ध केवल बुद्ध हैं, जिनके व्यक्तित्व में मानवता की शुभ्र ज्योत्स्ना धर्म की स्थिति बनकर चमकी है।

: ४ :

बुद्ध की चारिकाएं

बोधि प्राप्त करने के बाद भगवान् बुद्ध ने सात सप्ताह बोधि-वृक्ष और कुछ अन्य वृक्षों के नीचे समाधि-सुख में बिताये। बोधि-वृक्ष के नीचे चार सप्ताह ध्यान करने के पश्चात् भगवान् बुद्ध अजपाल नामक बरगद के वृक्ष के नीचे गये। वहां एक सप्ताह तक उन्होंने ध्यान किया। इसके बाद भगवान् मुचलिन्द नामक वृक्ष के नीचे गये। यहां भी उन्होंने एक सप्ताह तक ध्यान किया। तदनन्तर भगवान् ने राजायतन नामक वृक्ष के नीचे एक सप्ताह तक ध्यान किया। इस प्रकार बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद सात सप्ताह तक भगवान् बुद्ध ने विभिन्न वृक्षों के नीचे ध्यान किया। सातवें सप्ताह की समाप्ति पर तपस्सु और भल्लिक नामक दो

---

१. अन्य प्रसंगों के लिए 'सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित लेखक की पुस्तक 'बुद्ध और बौद्ध साधक' के लेख 'बुद्ध के स्वभाव व जीवन की विशेषताएं' देखें।

व्यापारियों ने, जो पांच सौ गाड़ियों को साथ लिये हुए उत्कल जनपद से मध्य-देश की ओर आ रहे थे, भगवान् को राजायतन वृक्ष के नीचे बैठे देखा ओर मट्ठे और लड्डू से भगवान् का सत्कार किया, जिससे उन्हों-ने कृपापूर्वक स्वीकार किया। तदनन्तर हम भगवान् को फिर अजपाल नामक बरगद के पेड़ के नीचे जाते देखते हैं और यहीं पर धर्म-प्रचार का संकल्प करने के पश्चात् वह वाराणसी के इसिपतन मिगदाय (ऋषि-पतन मृगदाव) की ओर चल पड़ते हैं, जहां पंचवर्गीय भिक्षु उस समय निवास कर रहे थे। उरुवेला से काशियों के नगर वाराणसी को जाते हुए, बोध-गया और गया के बीच रास्ते में, भगवान् को उपक नामक आजीवक साधु मिला और उससे उन्होंने कहा "मैं जिन हूं।"

क्रमशः चारिका करते हुए भगवान् वाराणसी के समीप ऋषिपतन मृगदाव में पहुंचे।[1] यहां आषाढ़ पूर्णिमा के दिन धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त का उपदेश दिया गया तथा पंचवर्गीय भिक्षुओं को त्रिरत्न-शरणागति प्राप्त हुई। इसके पांच दिन बाद अनत्तालक्खण-सुत्तन्त का उपदेश दिया गया। इसके दूसरे दिन वाराणसी के प्रसिद्ध श्रेष्ठि-पुत्र यश की प्रव्रज्या हुई। इसके बाद यश के कई गृहस्थ-मित्र भिक्षु बने और क्रमशः अर्हतों की संख्या, भगवान् बुद्ध को छोड़कर, साठ हो गई।

ऋषिपतन मृगदाव में भगवान् ने अपना प्रथम वर्षावास किया, जिसके बाद वह आश्विन पूर्णिमा (महापवारणा) के दिन साठ भिक्षुओं को भिन्न-भिन्न दिशाओं में धर्म-प्रचारार्थ जाने का आदेश देकर स्वयं उरुवेला के सेनानीगाम की ओर चल पड़े। वाराणसी होते हुए वह पहले कप्पासिय वनखण्ड में पहुंचे, जहां भद्रवर्गीय नामक तीस व्यक्तियों को प्रव्रजित किया और फिर उरुवेला पहुंच कर भगवान् वहां तीन मास ठहरे। उरुवेला के तीन प्रसिद्ध जटाधारी साधु-बन्धुओं (तेभातिक

---

१. बीच की यात्रा का विवरण पालि-तिपिटक में नहीं है। परन्तु 'ललित-विस्तर' में बीच के पड़ावों का भी उल्लेख है। उदाहरणतः वहां कहा गया है कि बीच में गंगा नदी को पार करने में भगवान् को कठिनाई हुई, क्योंकि उनके पास नाव वाले को देने के लिए पैसे नहीं थे। बाद में बिम्बिसार को जब यह बात मालूम पड़ी, तो उसने सब साधुओं को निःशुल्क पार उतारने की आज्ञा दी।

जटिले)—उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप और गया काश्यप—को उनके विशाल साधु-संघ के सहित भगवान् ने उपसम्पादित किया। अपने इन अनुयायियों के साथ लेकर भगवान् उरुवेला से गया के गयासीस (गयाशीर्ष) पर्वत पर गए, जहाँ उन्होंने आदित्तपरियाय-सुत्त का उपदेश दिया। तदनन्तर भिक्षु-संघ सहित भगवान् चारिका करते हुए पौष (फुस्स) मास की पूर्णिमा को राजगृह पहुंचे। यहां भगवान् लट्ठि-वनुय्यान (यष्टिवन उद्यान—वर्तमान जेठियन) के सुप्रतिष्ठ चैत्य में ठहरे। यहीं मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार उनसे मिलने आया। दूसरे दिन भोजनोपरान्त बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को उसने वेणुवन उद्यान अर्पित किया। इसके बाद भगवान् दो मास तक और राजगृह में ठहरे और फिर सम्भवतः इसी वर्ष वर्षावास से पूर्व लिच्छवियों की प्रार्थना पर, जो उन्होंने महालि के द्वारा भेजी थी, भगवान् वैशाली गये। इस समय वैशाली नगरी महामारी से पीड़ित थी। भगवान् ने वहां जाकर रतन-सुत्त का उपदेश दिया और वैशालीवासियों के सब रोग-दुःख दूर हुए। वैशाली से लौटकर भगवान् फिर राजगृह आ गये, जहां वह वेणुवन में ठहरे, परन्तु शीघ्र ही फाल्गुण (फग्गुण) की पूर्णिमा को उन्होंने अपने पिता और परिजनों के अनुकम्पार्थ अपने बाल्यावस्था के मित्र काल उदायी की प्रार्थना पर, जिसे शुद्धोदन ने उन्हें कपिलवस्तु लाने के लिए भेजा था, कपिलवस्तु के लिए प्रस्थान कर दिया। जातकट्ठकथा की निदान-कथा में राजगृह से कपिलवस्तु की दूरी साठ योजन बताई गई है। भगवान् दो मास में कपिलवस्तु पहुंचना चाहते थे। इसलिए धीमी गति से चले। भगवान् के साथ अंग-मगध जनपदों के अनेक निवासी भी थे। निश्चित समय पर भगवान् कपिलवस्तु पहुंचे, जहां उन्हें न्यग्रोधाराम में निवास प्रदान किया गया। मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा के अनुसार भगवान् बुद्ध की कपिलवस्तु की इस प्रथम यात्रा के अवसर पर ही उनकी मौसी महाप्रजावती गौतमी ने अपने हाथ से काते और बुने नये दुस्स (धुस्से) के जोड़े को भगवान् को भेंट करने की इच्छा प्रकट की, जिसका वर्णन मज्झिम-निकाय के दक्खिणा-विभंग-सुत्त में है। नन्द और राहुल की प्रव्रज्या इसी समय हुई और उसके थोड़े समय

बाद ही भगवान् कपिलवस्तु से चल दिये और मल्लों के देश में चारिका करते हुए अनूपिया के आम्रवन में पहुंचे, जहां भद्दिय, अनुरुद्ध, भृगु, किम्बिल, देवदत्त और उपालि की प्रव्रज्या हुई। आगे चलते हुए भगवान् राजगृह लौट आये, जहां के सीतवन में, जो एक श्मशान-वन था, भगवान् ने अपना दूसरा वर्षावास किया।

जिस समय भगवान् राजगृह में निवास कर रहे थे, उसी समय श्रावस्ती का श्रेष्ठी सुदत्त (अनाथपिण्डिक), जो राजगृह में अपने किसी काम से आया था, भगवान् से मिला और उनसे प्रार्थना की कि अगला वर्षावास वह कृपाकर श्रावस्ती में करें। भगवान् ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और राजगृह से चलकर पहले वैशाली पहुंचे, जहां की महावन कूटागारशाला में उन्होंने विहार किया और फिर आगे चारिका करते हुए श्रावस्ती पहुंचे। यहां अनाथपिण्डिक ने ५४ कोटि धन से जेतवनाराम बनवाकर आगत-अनागत चातुर्दिश भिक्षु-संघ को अर्पित किया। कुछ विद्वानों का मत है कि इसी समय विशाखा मृगार-माता ने पूर्वाराम नामक विहार बनवाकर बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को दान किया। परन्तु यह घटना काफी बाद की जान पड़ती है, सम्भवतः बुद्ध के बाईसवें वर्षावास के समय की, जिसे भी उन्होंने श्रावस्ती में किया था। अंगुत्तर-निकाय और बुद्धवंस की अट्ठकथाओं के अनुसार भगवान् वर्षावास से पूर्व राजगृह लौटकर आ गये, जहां उन्होंने बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद की दूसरी वर्षा के समान अपनी तीसरी वर्षा भी बिताई।

भगवान् ने अपना चतुर्थ वर्षावास राजगृह के कलन्दक निवाप में किया। यहीं उन्होंने राजगृह के एक श्रेष्ठि-पुत्र को, जिसका नाम उग्गसेन (उग्रसेन) था और जो रस्सी पर नाच दिखानेवाली एक नटिनी के प्रेम में पड़कर स्वयं उसी काम को करने लगा था, बुद्ध-धर्म में दीक्षित किया।

बुद्धत्व-प्राप्ति के पांचवें वर्ष में भगवान् के पिता शुद्धोदन की मृत्यु हो गई। इसी समय शाक्यों और कोलियों में, रोहिणी नदी के पानी को लेकर झगड़ा हुआ। भगवान् इस समय वैशाली की महावन कूटागार-शाला में विहर रहे थे। वह वहां से कपिलवस्तु गये और वहां के न्यग्रो-

घाराम में ठहरे। यह भगवान के द्वारा की हुई कपिलवस्तु की दूसरी यात्रा थी। इसी समय महाप्रजावती गौतमी ने भगवान् से प्रार्थना की कि वह उन्हें भिक्षुणी बनने की अनुमति दे दें। भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की और वैशाली लौट आये, जहां उन्होंने अपना पांचवां वर्षावास किया। यहींपर फिर महाप्रजावती गौतमी ने आकर आनन्द की सहायता से भगवान से भिक्षुणी बनने की अनुमति प्राप्त करली और भिक्षुणी-संघ का आरम्भ हुआ।

छठी वर्षा भगवान ने मंकुल पर्वत पर बिताई, जो सम्भवतः सूनापरान्त (वर्तमान ठाणा और सूरत के आसपास का प्रदेश) जनपद का मकुलकाराम ही था। यह भी सम्भव है कि मंकुल पर्वत विहार के हजारीबाग जिले का वर्तमान कलहा पहाड़ हो। मंकुलकाराम में भगवान् स्थविर पूर्ण की प्रार्थना पर गये थे, परन्तु वर्षावास के केवल सात दिन ही वह वहां ठहरे थे। यहां स्थविर पूर्ण के गृहस्थ शिष्यों ने भगवान के लिए एक 'गन्धकुटी' और 'चन्दनशाला' बनवाई थी। भगवान् मकुलकाराम को जाते हुए मार्ग में सच्चबन्ध नामक पर्वत पर ठहरे थे और वहां से वापस आते हुए उन्होंने नम्मदा (नर्मदा) नदी के तट पर बिहार किया था। बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद के छठे वर्ष में ही श्रावस्ती में ऋद्धि-प्रातिहार्य का प्रदर्शन किया गया।

सातवां वर्षावास भगवान् ने त्रायस्त्रिश लोक के पाण्डुकम्बल-शिला नामक स्थान में किया और आश्विन पूर्णिमा के दिन संकाश्य (वर्तमान संकिसा बसन्तपुर, जिला फर्रुखाबाद, उत्तर प्रदेश) नामक स्थान पर उतरे। यहां से भगवान् श्रावस्ती चले गये, जहां वह अनाथपिण्डिक के जेतवनाराम में ठहरे। श्रावस्ती की चिंचा माणविका ने सम्भवतः इसी समय अपना निन्दित काण्ड रचा।

आठवीं वर्षा भगवान ने भर्गों के देश में सुंसुमार गिरि (चुनार) के समीप भेसकलावन मृगदाव में बिताई, जहां वह वैशाली से गये थे। आदर्श वृद्ध दम्पती नकुलपिता और नकुलमाता, जो सुंसुमारगिरि के ही निवासी थे, यहीं भगवान् से मिले। एक अत्यन्त आश्चर्यजनक व्यवहार इन वृद्ध व्यक्तियों ने इस समय दिखाया। जैसे ही उन्होंने भगवान्

को देखा, वे उनसे लिपट गये और कहने लगे, "यह हमारा पुत्र है !" और फिर वात्सल्य प्रेम से अभिभूत होकर भगवान् के चरणों में गिर गये और रोकर कहने लगे, "पुत्र ! तुम इतने दिनों से हमें छोड़कर कहां चले गए थे ? तुम इतने दिन तक कहां रहे ?" बुद्ध ने उनके इस व्यवहार की ओर ध्यान नहीं दिया और उन्हें धर्मोपदेश किया। भगवान् के सुंसुमारगिरि में निवास करने के समय नकुलपिता और नकुलमाता ने अनेक बार उन्हें भोजन के लिए निमंत्रित किया और उन्हें बतलाया कि उन्होंने अपने जीवन में कभी एक दूसरे पर क्रोध नहीं किया है और उनकी इच्छा है कि वे इसी प्रकार परस्पर प्रेमपूर्वक दूसरे जीवन में भी रहें। भगवान् ने इन दोनों उपासकों को विश्वासकों में श्रेष्ठ बताया था।

नवीं वर्षा भगवान् बुद्ध ने कौशाम्बी में बिताई। इसी वर्ष वह कुरु देश में भी चारिका के लिए गये और उसके कम्मासदम्म नामक प्रसिद्ध निगम में मागन्दिय ब्राह्मण द्वारा अपनी कन्या मागन्दिया को उन्हें प्रदान करने का प्रस्ताव किया गया, जिसे भगवान् ने उसका तिरस्कार करते हुए अस्वीकार कर दिया।

बुद्धत्व-प्राप्ति के दसवें वर्ष में कौशाम्बी के भिक्षु-संघ में एक कलह उत्पन्न हो गया। किसी भिक्षु को उत्क्षेपण का दण्ड दिया गया था। उसीकी वैधता या अवैधता को लेकर यह झगड़ा हुआ, जिसके शमन का प्रयत्न भगवान् ने किया, परन्तु सफल न हुए। खिन्न होकर भगवान् एकान्तवास की इच्छा करते हुए कौशाम्बी के घोषिताराम से, जहां यह झगड़ा चल रहा था, चल दिये और क्रमशः बालकलोणकार गाम और पाचीनवंस (मिग) दाय में चारिका करते हुए पारिलेय्यक वन में पहुंचे, जहां के रक्षित वन-खण्ड में उन्होंने दसवां वर्षावास किया। बालक-लोणकार गाम कौशाम्बी के पास एक गांव था। उससे कुछ दूर पाचीन-वंस (मिग) दाय था, जिसे चेदि राष्ट्र में बताया गया है। पारिले-य्यक वन और उसके रक्षित वन-खण्ड को भी सम्भवतः चेदि राष्ट्र में ही होना चाहिए। पारिलेय्यक वन के रक्षित वन-खण्ड में वर्षावास करने के बाद भगवान् श्रावस्ती चले गए।

ग्यारहवां वर्षावास भगवान् ने मगध देश के नाला नामक ब्राह्मण-ग्राम में किया, जो बोधि-वृक्ष के समीप एक गाँव था। नाला में ग्यारहवाँ वर्षावास करने के समय के आस-पास ही भगवान् ने दक्षिणागिरि जनपद के एकनाला ब्राह्मण-ग्राम में विहार किया और इसी समय सुत्त-निपात के कसि-भारद्वाज-सुत्त में वर्णित कसि भारद्वाज से उनका संलाप हुआ। एकनाला ग्राम को नाला नामक ग्राम से भिन्न समझना कदाचित् अधिक ठीक होगा, क्योंकि एकनाला ग्राम मगध के दक्षिणागिरि जनपद में था, जो राजगृह के दक्षिण में स्थित था, जबकि नाला नामक ग्राम बोधि-वृक्ष के समीप कहीं स्थित था।

बारहवीं वर्षा भगवान् ने वेरंजा में बिताई। यह स्थान मथुरा और सोरेय्य (सोरों) के बीच में था। अतः इसे सम्भवतः सूरसेन या दक्षिण पंचाल जनपद में होना चाहिए। अंगुत्तर-निकाय के अनुसार भगवान् वेरंजा में श्रावस्ती से आये थे, और वेरंजा में वर्षावास करने के उपरान्त समंतपासादिका के अनुसार क्रमशः सोरेय्य (सोरों), संकस्स (संकिसा बसन्तपुर) और कण्णकुज्ज (कन्नौज) नामक स्थानों में होते हुए पयाग पतिट्ठान (प्रयाग-प्रतिष्ठान—प्रयाग-स्थित गंगा-यमुना का संगम) पहुंचे थे, जहां उन्होंने गंगा को पार किया। आगे बढ़ते हुए भगवान् वाराणसी पहुंचे, जहां कुछ दिन निवास करने के पश्चात् वह वैशाली की महावन कूटागारशाला में चले गए। चुल्लसुक जातक में कहा गया है कि भगवान् वेरंजा में वासकर क्रमशः चारिका करते हुए श्रावस्ती पहुंचे। अतः भगवान् उपर्युक्त मार्ग से वैशाली आने के पश्चात् श्रावस्ती गये, ऐसा मानना यहां ठीक होगा। भगवान् जब वेरंजा में वर्षावास कर रहे थे, तो वहां भयंकर दुर्भिक्ष पड़ रहा था। उत्तरापथ के पांचसौ घोड़ों के सौदागर, जो वहां पड़ाव डाले हुए थे, पसों-पसों भर जौ भिक्षुओं को देते थे, जिन्हें ऊखल में कूटकर भिक्षु खाते थे और उसी में से एक पसों सिल पर पीस कर भगवान् को दे देते थे। वेरंजा में दुर्भिक्ष के कारण इस प्रकार भगवान् को तीन मास जौ खानी पड़ी थी। जिस वेरंज या वेरंजक नामक ब्राह्मण ने भगवान् को वेरंजा में वर्षावास करने के लिए निमन्त्रित किया था, उसने सम्पन्न होते हुए भी लापरवाही की, परन्तु

तथागत ने फिर भी उसपर अनुकम्पा करते हुए वर्षावास की समाप्ति पर उसे अपने अन्यत्र चारिका के लिए जाने की इच्छा की सूचना दी और अन्तिम दिन उसके यहां भोजन भी किया। अंगुत्तर-निकाय के वर्णनानुसार भगवान् बुद्ध मथुरा गये थे और वहां उन्होंने उपदेश भी दिया था। इसी निकाय के वेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त में हम भगवान को मथुरा और वेरंजा के बीच के रास्ते में जाते देखते हैं, अतः यह निश्चित है कि बुद्धत्व-प्राप्ति के बारहवें वर्ष में ही भगवान् बुद्ध ने मथुरा की यात्रा की और उसके बाद लौटकर वे वेरंजा ही आ गये, जहां से उन्होंने अपनी श्रावस्ती तक की पूर्वोक्त यात्रा की।

बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद का तेरहवां वर्षावास भगवान ने चेदि-राष्ट्र के चालिय या चालिक पर्वत पर किया, जो उसी राष्ट्र के पाचीन वंस दाय में था और जिसके पास ही जन्तुगाम और किमिकाला नदी थे। इस समय आयुष्मान मेघिय भगवान बुद्ध की सेवा में थे।

चौदहवीं वर्षा भगवान् ने श्रावस्ती में बिताई। इस समय राहुल की अवस्था बीस वर्ष की थी। विनय-पिटक के नियम के अनुसार उनका उपसम्पदा-संस्कार इसी समय हुआ।

भगवान् का पन्द्रहवां वर्षावास कपिल स्तु में हुआ। इस समय उनके श्वसुर सुप्रबुद्ध ने भगवान् का घोर तिर ए किया। सुप्रबुद्ध समझता था कि गृहस्थ-जीवन त्यागकर गौतम ने उसकी पुत्री भद्रा कात्यायनी (राहुल-माता) के साथ अन्याय किया है। इसलिए वह भगवान बुद्ध से क्रुद्ध था। शराब पीकर वह कपिलवस्तु के मार्ग में बैठ गया और भगवान् बुद्ध को आगे नहीं बढ़ने दिया। भगवान को विवश होकर लौटना पड़ा। इसी वर्ष सुप्रबुद्ध की मृत्यु हो गई।

सोलहवां वर्षावास भगवान ने पंचाल देश के आलवी नामक नगर (वर्तमान अर्वल, जिला कानपुर या नवल या नेवल, जिला उन्नाव) में किया, जहां वह एक रात आलवक यक्ष के निवास-स्थानपर और बाद में मुख्यतः अग्गालव चैत्य में ठहरे। हस्तक आलवकके साथ भगवान का संवाद, जो सुत्त-निपात के आलवक-सुत्त में निहित है, इसी समय आलवी में हुआ। विनय-पिटक से हमें सूचना मिलती है कि भगवान श्रावस्ती से काशी

जनपद के निगम कीटागिरि में आये थे और फिर वहां से क्रमशः चारिका करते हुए आलवी नगर में पहुंचे थे। आलवी में वर्षावास करने के पश्चात् भगवान् राजगृह चले गए।

बुद्धत्व-प्राप्ति के सत्रहवें वर्ष में हम भगवान् बुद्ध को फिर श्रावस्ती लौटते देखते हैं। यहीं से वह एक गरीब और परेशान किसान पर अनुकम्पा करने के लिए दुबारा आलवी गये। भगवान् ने आलवी पहुंचकर निश्चित समय पर भोजन किया, परन्तु भोजनोपरान्त उपदेश उन्होंने तब तक नहीं दिया, जबतक वह किसान वहां न आ गया। बात यह थी कि उस किसान का बैल उस दिन खो गया था, जिसे ढूंढ़ते-ढूंढ़ते वह परेशान रहा और शाम तक खाना भी नहीं मिला। भूखा ही वह किसान भगवान् के दर्शनार्थ सन्ध्या समय आया। भगवान् ने सर्वप्रथम उसे भोजन दिलवाया और जब उसका मन शान्त हो गया, तो भगवान् ने चार आर्य-सत्यों का उपदेश दिया, जिसे सुनते ही किसान को सत्य में अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई। भगवान् इसके बाद राजगृह लौट आये, जहां उन्होंने अपना सत्रहवां वर्षावास किया।

अठारहवां वर्षावास भी भगवान् ने अपने तेरहवें वर्षावास के समान चालिय पर्वत पर ही किया। यहीं से एक बार भगवान् फिर आलवी गये। इस बार वह एक गरीब जुलाहे की लड़की पर अनुकम्पार्थ वहां गये। बाद में करघे के गिर जाने से इस गुणवती लड़की की मृत्यु हो गई और भगवान् ने उसके पिता को, जिसकी जीविका चलाने में यह लड़की सहायता करती थी, सान्त्वना दी। अंगुत्तर-निकाय के आलवक-सुत्त में हम भगवान् को अन्तराष्टक (माघ के अन्त के चार दिन और फाल्गुण के आदि के चार दिन) में आलवी के समीप सिसपा-वन में विहार करते देखते हैं। सम्भवतः यह इसी वर्ष की या इससे एक वर्ष पूर्व की घटना हो सकती है।

उन्नीसवीं वर्षा भी भगवान् ने चालिय पर्वत पर ही बिताई।

बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद का बीसवां वर्षावास भगवान् ने राजगृह में किया। इसी वर्ष जब भगवान् राजगृह से श्रावस्ती की ओर जा रहे थे तो मार्ग में उन्हें भयंकर डाकू अंगुलिमाल मिला, जिसे उन्होंने दमित

किया। बुद्धत्व-प्राप्ति के बीसवें वर्ष में ही आनन्द को भगवान् का स्थायी उपस्थाक (शरीर-सेवक) बनाया गया। इस समय तक अनेक भिक्षु समय-समय पर भगवान् की परिचर्या करते रहते थे। मेघिय भिक्षु का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। स्वागत (सागत), राध और नागसमाल भिक्षुओं ने भी कुछ-कुछ समय तक भगवान् की सेवा की थी। इनमें से कभी कोई भिक्षु शास्ता के सम्बन्ध में लापरवाही भी कर देते थे। इसीलिए इस समय भगवान् के परम अनुरक्त शिष्य आनन्द को उनका स्थायी उपस्थाक बनाया गया। इस समय से लेकर ठीक भगवान् के महापरिनिर्वाण अर्थात् करीब पच्चीस वर्ष से अधिक समय तक आनन्द ने छाया की भांति भगवान् को कभी नहीं छोड़ा और अत्यन्त तन्मयता और आत्मीयता के साथ उनकी सेवा की।

इक्कीसवें वर्षावास से लेकर पैंतालीसवें वर्षावास तक अर्थात् पूरे पच्चीस वर्षावास भगवान् ने श्रावस्ती में किये। इन पूरे पच्चीस वर्षों में भगवान् ने अपना प्रधान निवास-स्थान श्रावस्ती को बनाया, परन्तु बीच-बीच में वह दूर तक चारिकाओं के लिये जाते थे और केवल वर्षा में श्रावस्ती लौटकर आ जाते थे। संयुत्त-निकाय के थपति-सुत्त में स्पष्टतः कहा गया है कि वर्षावास के बाद भगवान् अक्सर श्रावस्ती से मल्लों, वज्जियों, काशियों और मगधों के देशों में जाते हैं और फिर वहाँ से लौटकर श्रावस्ती आ जाते हैं। सुत्त-निपात की अट्ठकथा (परमत्थजोतिका) का कहना है कि श्रावस्ती में निवास करते समय यदि भगवान् दिन को मृगारमाता के प्रासाद (मिगारमातु पासाद) पूर्वाराम (पुब्बाराम) में रहते थे तो रात को अनाथपिण्डिक के जेतवनाराम में और यदि रात को मृगारमाता के प्रासाद पूर्वाराम में रहते थे तो दिन में अनाथपिण्डिक के आराम जेतवन में। श्रावस्ती में पच्चीस वर्ष तक वर्षावास करते हुए भगवान् ने जिन चारों ओर फैले हुए अनेक स्थानों की यात्राएं विभिन्न समयों पर कीं, उन्हें राज्य, जनपद आदि की दृष्टि से इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है:—

मगध राज्य में

(१) अन्धकविन्द (ग्राम), (२) अम्बलट्ठिका, (३) अम्बसण्ड,

(४) एकनाला, (५) कलन्दक निवाप, (६) खाणुमत ब्राह्मण-ग्राम, (७) जीवकम्बवन, (८) तपोदाराम, (९) दक्खिणागिरि, (१०) नालन्दा (११) पंचशाल, (१२) मणिमालक चेतिय, (१३) मातुला, (१४) मोर निवाप परिव्राजकाराम, (१५) लट्ठिवन, (१६) सीतवन (१७) सूकरखता।

कोसल राज्य में

(१) इच्छानंगल ब्राह्मण-ग्राम, (२) उक्कट्ठा, (३) उग्गनगर, (४) उज्जुञ्ञा, (५) ओपसाद, (६) चण्डलकप्प, (७) दण्डकप्प, (८) नगरक, (९) नगरविन्द, (१०) नलकपान, (११) पंकधा (१२) मनसाकट (१३) रम्मकाराम (१४) वेनागपुर, (१५) सललागारक, (१६) साकेत, (१७) सालवतिका, (१८) साला, (१९) सेतव्या, (२०) वेलुद्वार।

वज्जि जनपद में

(१) वैशाली, (२) अम्बपालिवन (वैशाली के समीप), (३) उक्काचेल (गंगा नदी के किनारे), (४) कोटिगाम, (५) गोसिंग सालवन, (६) चेतियगिरि (७) नादिका, (८) पाटिकाराम (वैशाली), (९) बेलुव गाम, (१०) हत्थिगाम, (११) तिन्दुकखाणु (परिव्राजकाराम)।

वंस (वत्स) राज्य में

(१) कौशाम्बी

पंचाल देश में

(१) अग्गालव चेतिय (आलवी नगर में) (२) सिंसपावन (आलवी में), (३) किम्बिला।

चेदि-राष्ट्र में

(१) भद्दवती।

अंग-जनपद में

(१) अस्सपुर, (२) चम्पा, (३) भद्दिय।

अंगुत्तराप में

(१) आपण।

सुह्म (सुम्भ) जनपद में

(१) सेदक, सेतक या देसक (२) कजंगल।

कुरु-राष्ट्र में

(१) कम्मासदम्म, (२) थुल्लकोट्ठित

सूरसेन या पंचाल-जनपद में

(१) वेरंजा।

विदेह-राष्ट्र में

(१) मिथिला, (२) विदेह (किसी विशेष स्थान का उल्लेख नहीं किया गया है)।

काशी-जनपद में

(१) कीटागिरि।

शाक्य-जनपद में

(१) उलुम्प, (२) खोमदुस्स, (३) चातुम, (४) देवदह, (५) मेदलुम्प या मेदतलुम्प, (६) वेधञ्ञा, (७) सक्कर, (८) सामगाम, (९) सिलावती।

कोलिय-जनपद में

(१) उत्तर (कस्बा), (२) कक्करपत्त, (३) कुण्डधान-वन, (४) सज्जनेल, (५) हलिद्दवसन।

मल्ल-राष्ट्र में

(१) उरुवेलकप्प, (२) भोगनगर

कालामों के प्रदेश में

(१) केसपुत्त निगम।

उपर्युक्त सूची बयासी स्थानों की है। इनके अलावा तीन स्थान ऐसे हैं, जिनका राज्य या जनपदों के रूप में वर्गीकरण नहीं किया जा सकता और दो ऐसे हैं, जिनके विषय में हम पूर्णतः निश्चय नहीं कर सकते कि किस प्रदेश में थे। जिन स्थानों को हम राज्यों और जनपदों के अन्तर्गत नहीं रख सकते, उनमें अनोतत्त (अनवतप्त) दह, हिमवन्त पदेस और उत्तर-कुरु हैं। अनोतत्त दह को अक्सर मानसरोवर झील से मिलाया जाता है और हिमवन्त-प्रदेश तो हिमालय है ही। उत्तरकुरु से तात्पर्य

उत्तरकुरु-द्वीप से है, जो जम्बुद्वीप के उत्तर में हिमालय से परे स्थित था। जिन दो स्थानों को हम निश्चित रूप से किसी विशेष जनपद या राज्य में स्थित नहीं दिखा सकते, वे हैं उत्तरका और तोदेय्य। उत्तरका कस्बा थुलू लोगों के (जिन्हें पाठ-भेद से बुमु और खुलू भी कहा गया है) प्रदेश में था। परन्तु ये थुलू बुमू या खुलू लोग कौन थे, इसका अभी सम्यक निर्णय नहीं हो सका है। सम्भवतः मज्झिम-देस में हम थुलू जनपद को रख सकते हैं, क्योंकि यह एक सुविदित जनपद था, जहां भगवान् सुनक्षत्र लिच्छविपुत्र के साथ एक बार गये थे। तोदेय्य एक गांव था, जिसके सम्बन्ध में हम केवल इतना कह सकते हैं कि वह श्रावस्ती और वाराणसी के बीच में स्थित था। भगवान् बुद्ध यहां आनन्द को साथ लेकर एक बार गये थे। भगवान् बुद्धके जीवन-काल में चूंकि काशी एक स्वतन्त्र राष्ट्र न होकर कोसल का ही एक अंग था, इसलिए हम तोदेय्य-गामको आसानी से कोसल-राज्य में मान सकते हैं।

श्रावस्ती में पेंतालीसवां वर्षावास करने के बाद भगवान् राजगृह चले गए। बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद उनके पार्थिव जीवन का यह छियालीसवां और अन्तिम वर्ष था, जिसकी प्रमुख घटनाओं का उल्लेख हमें दीघ-निकाय के महापरिनिब्बाण-सुत्त, महासुदस्सन-सुत्त और जनवसभ-सुत्त में मिलता है। राजगृह के गृध्रकूट पर्वत से भगवान् ने वैशाली के लिए प्रस्थान किया, जहां होते हुए वह कुसिनारा गये। यह उनकी अन्तिम यात्रा थी। प्रस्थान से पूर्व मगधराज अजातशत्रु का ब्राह्मण मंत्री वर्षकार उनसे मिला और उसने भगवान् को बताया कि राजा अजातशत्रु वज्जियों पर अभियान करना चाहता है, जिसके उत्तर में भगवान् ने सीधे वर्षकार से कुछ न कहकर पास में उनपर पंखा झलते हुए आनन्द से कहा कि जबतक वज्जी लोग सात अपरिहानिय धर्मों का, जिनका उपदेश उन्होंने पहले एक बार वज्जियों को वैशाली के सारन्दद चैत्य में दिया था, पालन करते रहेंगे, तबतक उनकी कोई क्षति नहीं हो सकती। तदनन्तर भिक्षुओं के अनुरूप सात अपरिहानिय धर्मों का उपदेश भगवान् ने राजगृह की उपस्थान-शाला में दिया और फिर भिक्षु-संघ के सहित अम्बलटिठका के लिए प्रस्थान किया, जहां उन्होंने राजागारक (राजकी-

यभवन) नामक स्थान में निवास किया। यहाँ से आगे चलकर भगवान् नालन्दा आये और प्रावारिक-आम्रवन (पावारिकम्ब-वन) में ठहरे। नालन्दा से चलकर भगवान् पाटलिगाम पहुंचे, जो गंगा नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित था। पाटलिगाम के आवसथागार (विश्रामगृह) में उन्होंने वहां के उपासकों को सदाचार पर उपदेश दिया। इस समय सुनीध और वस्सकार नामक अजातशत्रु के ब्राह्मण-मंत्री वज्जियों को जीतने के लिए नगर को बसा रहे थे (नगरं मापेन्ति वज्जीनं पटिबाहाय)। नगर की इस बसावट को देखकर भगवान् ने यह भविष्यवाणी की कि आगे चलकर यह गांव पाटलिपुत्र नाम से जम्बुद्वीप का प्रसिद्ध नगर होगा। दूसरे दिन भगवान् ने उपर्युक्त दो ब्राह्मण मंत्रियों के यहां भोजन किया और उनके तथा अन्य अनेक नागरिकों के द्वारा अनुगमित होते हुए गंगा नदी को पार किया। जिस द्वार से भगवान् पाटलि-ग्राम से निकले, उसका नाम 'गौतम द्वार' और जिस घाट से उन्होंने गंगा नदी को पार किया, उसका नाम 'गौतम तीर्थ' या 'गौतम घाट' रक्खा गया। गंगा नदी को पारकर भगवान् वज्जियों के कोटिगाम नामक गांव में पहुंचे। वहां उन्होंने भिक्षुओं को चार आर्य-सत्यों का उपदेश दिया। आगे चलकर भगवान् वज्जि जनपद के ही नादिक या नादिका नामक नगर में पहुंचे, जहां के गिंजकावसथ नामक आवास में, जो ईंटों का बना हुआ था, वह ठहरे। यहां से चलकर भगवान् वैशाली पहुंचे, जहां वह अम्बपालि वन में ठहरे और अम्बपालि के आतिथ्य को स्वीकार किया। इसके बाद भगवान् समीप के बेलुवगामक नामक ग्राम में चले गए और उन्होंने भिक्षुओं से कहा "भिक्षुओ, तुम वैशाली के चारों ओर···वर्षावास करो। मैं यहीं बेलुवगामक में वर्षावास करूंगा।" "एथ तुम्हे भिक्खवे समन्ता वेसालिं···वस्सं उपेथ। अहं पन इधेव वेलुवगामके वस्सं उपगच्छामी ति'। परन्तु इसी समय भगवान् को कड़ी बीमारी उत्पन्न हुई। भगवान् ने संकल्प-बल से उसे दबा दिया, क्योंकि वह बिना भिक्षु-संघ को अवलोकन किये महापरिनिर्वाण में प्रवेश करना नहीं चाहते थे। वर्षावास के उपरान्त भगवान् एक दिन वैशाली में भिक्षार्थ गये और ध्यान के लिए आनन्द के साथ चापाल चैत्य में बैठे। यहीं उन्होंने

कहा कि वह तीन मास बाद महापरिनिर्वाण में प्रवेश करेंगे। इसका अर्थ यह है कि इस समय माघ की पूर्णिमा थी और प्रवारणा (वर्षावास की समाप्ति—आश्विन पूर्णिमा) को हुए चार मास बीत चुके थे। इसके बाद भगवान् वैशाली की महावन कूटागारशाला में चले गए और वैशाली के आसपास विहरनेवाले सब भिक्षुओं को बुलवाकर उन्होंने उनसे कहा कि जिस धर्म का उन्होंने उन्हें उपदेश दिया है, उसका ज्ञानपूर्वक पालन उन्हें करना चाहिए, ताकि यह ब्रह्मचर्य (बुद्धधर्म) चिरकाल तक बहुत जनों के हित और सुख के लिए स्थित रहे। इसी समय भगवान् ने भिक्षुओं से कहा, "मेरी आयु परिपक्व हो चुकी है। मेरा जीवन थोड़ा है। मैं तुम्हें छोड़कर जाऊंगा, मैंने अपनी शरण बनाली है।"····"परिपक्को वयो मय्हं परित्तं मम जीवितं। पहाय वो गमिस्सामि कतं मे सरणमत्तानो"। दूसरे दिन वैशाली में भिक्षाचर्या करने के बाद भगवान् ने मुड़कर वैशाली की ओर देखा और आनन्द से कहा, "आनन्द! यह तथागत का अन्तिम वैशाली-दर्शन होगा।" "इदं पच्छिमकं आनन्द तथागतस्स वेसालिदस्सनं भविस्सति"। इसके बाद ही भगवान् भण्डगाम की ओर चल दिये। भण्डगाम पहुंचकर भगवान् ने भिक्षुओं को शील, समाधि, प्रज्ञा और विमुक्ति सम्बन्धी उपदेश दिया और फिर क्रमशः हत्थिगाम, अम्बगाम और जम्बुगाम होते हुए भगवान् भोगनगर पहुंचे जहां वह आनन्द चेतिय में ठहरे। तदनंतर भगवान् आगे बढ़ते हुए पावा पहुंचे, जहां वह चुन्द सुनार के आम्रवन में ठहरे और उसके यहां 'सूकरमद्दव' का भोजन किया। इसी समय भगवान् को कड़ी बीमारी उत्पन्न हुई और उसी अवस्था में वह कुसिनारा की ओर चल पड़े। रास्ते में थककर भगवान् एक पेड़ के नीचे बैठ गये और आनन्द ने संघाटी चौपेती कर उनके नीचे बिछा दी। भगवान् को कड़ी प्यास लगी हुई थी, पास में ही एक छोटी नदी (नदिका) बह रही थी, जिसमें से पानी लाने को भगवान् ने आनन्द से कहा। आनन्द वहां गये, परन्तु देखा कि अभी-अभी पांच सौ गाड़ियाँ वहां होकर गई हैं, अतः पानी गंदा है। भगवान् के पुनः आग्रह पर आनन्द वहाँ गये और इस बार पानी को स्वच्छ पाया। तथागत ने जल पिया और इसी समय मल्ल-

पुत्र पुक्कुस व्यापारी, जो कुसिनारा से पावा की ओर पांच सौ माल से लदी गाड़ियों के सहित आ रहा था, उनसे मिला और भगवान को एक इंगुरवर्ण दुशाला भेंट किया, जिसके एक भाग को भगवान के आदेशानुसार उसने उन्हें उढ़ा दिया और दूसरे भाग को आनन्द को। आगे चलकर भगवान ककुत्था (कुकुत्था तथा ककुधा पाठान्तर) नामक नदी पर आये, जिसमें स्नान और पान कर (नहात्वा च पिवित्वा च) भगवान ने उसे पार किया और एक आम्रवन में विश्राम किया। दीघ-निकाय की अट्ठकथा के अनुसार यह आम्रवन इस ककुत्था नदी के दूसरे किनारे पर ही स्थित था। "तस्सा येव नदिया तीरे अम्बवनंति"। इस आम्रवन में विश्राम करते समय ही भगवान ने आनन्द से कहा कि चुन्द सुनार को यह अफसोस नहीं करना चाहिए कि उसके यहां भोजन करके तथागत परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। उसे तो अपना सौभाग्य ही मानना चाहिये कि उसके यहाँ भगवान ने अनुपाधि-शेष-निर्वाण-धातु में प्रवेश किया, जो उनकी ज्ञान-प्राप्ति के समान ही एक मंगलमय घटना है। इस आम्रवन से चलकर भगवान ने एक और नदी को पार किया, जिसका नाम हिरण्यवती था। इस नदी को पार कर भगवान कुसिनारा के समीप मल्लों के उपवत्तन नामक शालवन में आये। दीघ-निकाय की अट्ठकथा का कहना है कि अत्यधिक निर्बलता के कारण भगवान को पावा और कुसिनारा के बीच पच्चीस स्थानों पर बैठना पड़ा। "एतस्मिं अन्तरे पञ्चवीसतिया ठानेसु निसीदित्वा"। कुसिनारा के समीप स्थित मल्लों के उपवत्तन शालवन में जुड़वां शाल-वृक्षों के नीचे आनन्द ने भगवान के लिए उत्तर की ओर सिरहाना करके चारपाई बिछा दी, जहां भिक्षुओं को संस्कारों की अनित्यता और अप्रमादपूर्वक जीवनोद्देश्य पूरा करने का उपदेश देते हुए, असमय में फूले शाल-वृक्षों के फूलों तथा दिव्य मन्दार (मन्दारव) पुष्पों के पराग-रेणुओं से पूजित होते हुए, वैशाख पूर्णिमा की रात के अन्तिम याम में, तथागत ने महापरिनिर्वाण में प्रवेश किया।

: ५ :

बुद्ध के योगी रूप की एक झांकी

आचार्य शंकर ने एक स्तोत्र में भगवान् बुद्ध को 'योगिनां चक्रवर्ती' (योगियों के चक्रवर्ती) कहा है। बौद्ध धर्म को योग की एक शाखा मानने की प्रवृत्ति कई आधुनिक विद्वानों में भी पाई जाती है। कुछ भी हो, यह निर्विवाद है कि भगवान् बुद्ध एक महान् योगी थे। उनके महापरिनिर्वाण के बाद लोग उनके सम्बन्ध में प्रायः कहते सुने जाते थे, "वह भगवान् ध्यानी थे, ध्यान के प्रशंसक थे।" अनेक बार हम उन्हें ध्यानमग्न अवस्थाओं में देखते हैं। कभी वह पर्वत के ऊपर काली अंधियारी रात में खुले में बैठकर ध्यान कर रहे हैं जबकि धीमी-धीमी रिमझिम वर्षा भी हो रही है। कभी खुले में मही (गंडक) नदी के तट पर एक बिना छाई हुई कुटिया में ध्यानस्थ बैठे हैं जबकि आकाश में बादल घिरे हुए हैं। कभी वह मध्याह्न की गर्मी में गृध्रकूट पर्वत पर ध्यानस्थ बैठे हैं, कभी जंगल में ऊंची-नीची जमीन पर भरी सर्दी में पत्तों के आसन पर आसीन हैं। कभी किसी श्मशान-वन में प्रत्यूष वेला में ध्यान करते हुए टहल रहे हैं, तो कभी जब दर्शनार्थी उनसे मिलने विहार में आते हैं तो आनन्द उन्हें सूचित करते हैं, "भगवान् इस समय ध्यान में हैं, यह समय उनसे मिलने का नहीं है।" सारांश यह कि शाक्यमुनि बुद्ध भगवान् के जीवन का जो चित्र हमें त्रिपिटक में बहुलता से मिलता है, वह उनके ध्यानी रूप का ही है।

एक लम्बे समय तक जनता के बीच रहते-रहते हम अक्सर भगवान् बुद्ध को कुछ काल के लिए एकान्त सेवन करते देखते हैं। कोसल राज्य के इच्छानङ्गल वनखंड में हम उन्हें एक बार भिक्षुओं से कहते देखते हैं, "भिक्षुओ! मैं तीन महीने एकान्तवास करना चाहता हूं। एक भिक्षान्न लानेवाले को छोड़ मेरे पास दूसरा कोई न आने पावे।" बुद्ध के जीवन

में ऐसे प्रसंग कई बार और भी आये।

भगवान् बुद्ध अपने उपदेश के अन्त में अक्सर अपने शिष्यों से कहा करते थे, "भिक्षुओ ! यह सामने वृक्षों की छाया है, ये सूने घर हैं। भिक्षुओ ! ध्यान करो। पीछे मत पछताना। यही हमारी अनुशासना है।" भगवान् ने एक बार राहुल को उपदेश दिया। उपदेश के बाद राहुल ने सोचा, "कौन आज भगवान् का उपदेश सुनकर भिक्षा करने जाय ?" वहीं आसन लगाकर गर्दन सीधी की और स्मृति को उपस्थित कर ध्यान-मग्न हो गये। भूख-प्यास को छोड़कर ध्यान के लिए ऐसी ही तत्परता बुद्ध के अनेक शिष्यों में पाई जाती थी।

भगवान् को जब सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति हुई तो उसके सप्ताहों बाद तक वह बिना कुछ खाये-पिये, हिले-डुले एक ही आसन से ध्यान के आनन्द में बैठे रहे। सोचा, जिस दुर्लभ बोधि के लिए मैंने यत्न किया था, वह मुझे मिल गई। अब क्यों न मैं ध्यान सुख का अनुभव करते हुए निर्वाण में प्रवेश करूँ ? कहा गया है कि तथागत के मन में इस प्रकार के विचार का आना भी एक प्रलोभन था। वह मार का अन्तिम प्रयत्न था, जिसे उसने सम्यक् सम्बुद्ध को मार्ग-भ्रष्ट करने के लिए किया। परंतु मार की पराजय हुई। केवल आत्म-विमुक्ति तथागत को सन्तुष्ट नहीं कर सकी। ध्यान-सुख उन्हें अपने में नहीं बांध सका। दुःखार्त लोक की करुणा के लिए उन्होंने ध्यान-सुख को छोड़ दिया। निर्वाण-प्रवेश कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया गया। तभी हमें बौद्ध धर्म मिला।

ज्ञान-प्राप्ति के बाद तथागत ने अहर्निश कर्मरत होकर सद्धर्म का प्रचार किया। लगातार पैंतालीस वर्ष तक वह मध्य-देश के ग्रामों, निगमों नगरों और आरामों में पैदल घूमते फिरे। अनवरत क्रियाशील था वह जीवन जिसमें रात को सिर्फ दो घंटे सोने का अवकाश था। जिस अन्तिम रात को उन्होंने शरीर छोड़ा, उस दिन भी सन्ध्याकाल से लेकर रात के अन्तिम पहर तक लगातार वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और जन-समूहों को उपदेश करते रहे। परन्तु तथागत का यह अनवरत कर्म-योग ध्यानाभ्यास से रहित नहीं था। नाना प्रकार के लोगों से मिलते हुए, पैदल चलते हुए, धर्मोपदेश करते हुए, भगवान् सदा समाधि में स्थित

रहते हैं। कोसल देश के वेनागपुर नामक ग्राम में विचरण करते हुए एक बार भगवान् ने वहां के वत्सगोत्र नामक ब्राह्मण से कहा था कि निरन्तर चारिका करते हुए भी वह ध्यान में ही रहते हैं, अतः उनका चंक्रमण 'ब्रह्म चंक्रमण' होता है। कहा गया है कि तथागत कभी ध्यान से रिक्त नहीं रहते थे। इसकी गवाही त्रिपिटक के प्रत्येक पृष्ठ पर हमें मिलती है। एक-एक वाक्य, एक-एक अक्षर, जो तथागत के मुख से निकला है, उनकी सहज ध्यानावस्था का सूचक है। सम्पूर्ण त्रिपिटक बुद्ध का ध्यान ही है। इस साहित्य के अनुशीलन से बुद्ध के जिस ध्यानी स्वरूप का परिचय हमें मिलता है, उससे दिव्य वस्तु संसार में दूसरी नहीं है। इसी प्रभाव की अभिव्यक्ति पाषाण-शिल्पियों ने बुद्ध की मूर्तियों द्वारा की है, जो शान्ति की महान् शक्ति को प्रकट करने में अद्वितीय हैं। प्रसिद्ध तत्वविद् काउण्ट कैसरलिङ्ग ने कहा है, "बुद्ध-प्रतिमा से अधिक उदात्त वस्तु इस संसार में मैं दूसरी नहीं जानता।" भगवान् बुद्ध का स्मरण करते ही चित्त शान्ति में डूब जाता है, इन्द्रियां शमित हो जाती हैं और आध्यात्मिक प्रमोद का अनुभव होने लगता है।

भगवान् बुद्ध ध्यानी थे, परन्तु उनका ध्यान निष्क्रिय नहीं था। कल्पना-प्रसूत चिन्तन बौद्ध ध्यान-पद्धति के सर्वथा बहिर्भूत है। भगवान् बुद्ध क्या सोचते थे, यह जिज्ञासा हमारे लिए स्वाभाविक है। वैसे तो विश्व का कोई भी प्राचीन या अर्वाचीन साधक या विद्वान् तथागत के मन को पूरी तरह नहीं जान सका है। ब्रह्म की तरह ही तथागत अननुमेय हैं। परन्तु जहांतक त्रिपिटक के पृष्ठ अभिव्यक्त करते हैं या कर सके हैं, हम तथागत के मन की अवस्थाओं के सम्बन्ध में कुछ जान सकते हैं। कहा गया है कि व्यष्टि और समष्टि के हित का चिन्तन करते ही तथागत ध्यान में आसीन रहते हैं। दो प्रकार के संकल्प तथागत के मन में बहुधा आया करते थे। प्राणियों के हित का संकल्प और एकान्त ध्यान (प्रविवेक) का संकल्प। ध्यान और लोकानुकम्पा उनके लिए एक थे। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का वह ध्यान करते थे। दसों दिशाओं को मैत्री और करुणा के भावों से आप्लावित करते थे। इसे वह ब्रह्म-विहार कहते थे। सम्यक् दृष्टि और सम्यक

संकल्प का मानसिक चिन्तन ही बाद में सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् जीविका के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। काया, वेदना, चित्त और मानसिक विषयों (धर्मों) को लेकर स्मृति-प्रस्थान का उपदेश भगवान् ने दिया है, जिसका अभ्यास मार्गारूढ़ होने के बाद साधक करते हैं। विदर्शना पर आधारित ध्यान-पद्धति का विश्लेषण हमें यहां अभीष्ट नहीं है। केवल यही कहना है कि जिन साधकों ने शील की साधना पूरी कर ली है, उनके लिए ध्यान का अभ्यास आवश्यक माना गया है। ध्यान या समाधि में ही सत्य के दर्शन होते हैं। बिना ध्यान के प्रज्ञा की प्राप्ति नहीं होती और जिसमें प्रज्ञा नहीं है, वह ध्यान नहीं कर सकता। अतः ध्यान और प्रज्ञा अन्योन्याश्रित हैं। वे एक दूसरे के पूरक हैं। ध्यान का एक विस्तृत और व्यावहारिक क्रम हमें बुद्ध-वचनों में मिलता है, जिसका अभ्यास युगों से साधक करते आये हैं। बौद्ध धर्म अपने साधनात्मक रूप में चित्त का अभ्यास या ध्यान ही है।

भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त करते हुए जिन ध्यान-वीथियों को प्राप्त किया था, उनका कुछ विवरण हमें प्राप्त है। पहले तथागत ने ध्यान की चार अवस्थाओं को क्रमिक रूप से प्राप्त किया। फिर उन्होंने आकाशानन्त्यायतन नामक ध्यान को प्राप्त किया। उसके बाद उन्होंने विज्ञानानन्त्यायतन और आकिंचन्यायतन नामक ध्यान-भूमियों को पार किया और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन नामक समाधि अवस्था को प्राप्त कर संज्ञावेदयितनिरोध को प्राप्त किया। इस अन्तिम चित्त-अवस्था में संज्ञा (होश) और वेदना (अनुभूति) का सर्वथा निरोध हो जाता है, परन्तु जीव-तत्व विद्यमान रहता है। जब भगवान् समाधि की इस अवस्था में थे, तो उनके शिष्य आनन्द ने अपने सब्रह्मचारी अनिरुद्ध से पूछा, "भन्ते अनिरुद्ध! क्या तथागत परिनिर्वृत्त हो गये?" अनिरुद्धने कहा, "आयुष्मन् आनन्द! भगवान् परिनिर्वृत्त नहीं हुए हैं, संज्ञावेदयितनिरोध को प्राप्त हुए हैं।" भगवान् की चेतना फिर लौटकर उलटे क्रम से नैवसंज्ञानासंज्ञायतन नामक ध्यान-अवस्था में आ गई। फिर क्रमशः आकिंचन्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन और

आकाशानन्त्यायतन नामक ध्यान के धरातलों पर होते हुए भगवान् ने ध्यान की चतुर्थ अवस्था से क्रमशः प्रथम अवस्था तक आगमन किया। प्रथम अवस्था से भगवान् ने फिर ऊपर की ओर संक्रमण करते हुए द्वितीय अवस्था को प्राप्त किया, फिर तीसरी अवस्था को और उसके बाद चौथी अवस्था को। ध्यान की चतुर्थ अवस्था से उठने के साथ ही भगवान् ने परिनिर्वाण में प्रवेश किया। इस प्रकार ध्यान के द्वारा भगवान् का परिनिर्वाण हुआ।

भगवान् बुद्ध कितने महान् योगी थे, इसके सम्बन्ध में एक प्रसंग का उल्लेख करना यहां आवश्यक होगा। एक बार भगवान् किसी ग्राम के समीप एक शाला में निवास कर रहे थे। दिन का समय था। घटाएं आकाश में घिर रही थीं और मूसलाधार वर्षा हो रही थी। बादलों की कर्णभेदी गड़गड़ाहट हुई और वहीं समीप बिजली गिरी जिससे पास काम करनेवाले दो किसान और चार बैल मर गये। गांव से आदमियों की एक बड़ी भीड़ वहां इकट्ठी हो गई। उस समय भगवान् शाला के बरामदे में ध्यान में टहल रहे थे। लोगों ने भगवान् को बताया की अभी हाल में बिजली गिरने से दो भाई किसान और चार बैल मर गये हैं, जिन्हें देखने के लिए यह भीड़ इकट्ठी हुई है। फिर ग्रामीणों और भगवान् के बीच कुछ इस प्रकार संलाप चला -

"भन्ते ! आप उस समय कहां थे ?"

"आयुष्मन् ! यहीं था।"

"क्या भन्ते ! आपने बादलों को घुमड़ते और बिजली को चमकते देखा ?"

"नहीं आयुष्मन्! नहीं देखा।"

"क्या भन्ते ! बिजली की कड़क का शब्द सुना ?"

"नही आयुष्मन् ! शब्द भी नहीं सुना।"

"क्या भन्ते ! सो गये थे ?"

"नहीं आयुष्मन् ! सोया नहीं था।"

"क्या भन्ते ! होश में थे।"

"हां आयुष्मन् ! होश में था।"

"तो भन्ते ! आपने होश में, जागते हुए, न गरजते बादलों को देखा, न बिजली की कड़क का शब्द सुना, न उसके गिरने को देखा ?"

"हां आयुष्मन् !"

इतनी महान् एकाग्रता भगवान् बुद्ध की थी। संसार की दुर्धर्ष-से दुर्धर्ष घटना उनकी मानसिक शान्ति को भंग नहीं कर सकती थी। ऐसे शान्त विहार से वह भगवान् विहरते थे।

: ६ :

बौद्ध धर्म के प्रति सही दृष्टि

भगवान् बुद्ध ने जिस ज्ञान का साक्षात्कार किया, उसका भारतीय धर्म-साधना में क्या स्थान है, यह प्रश्न हमारे लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसकी ठीक अवगति प्राप्त कर लेने पर उस महत् अनुभव की ओर हमारी श्रद्धा बढ़ेगी, जिसे तथागत ने प्राप्त किया था और जो ज्ञान के उस रूप से आगे का विकास है, जिसकी अभिव्यक्ति वैदिक वाङ्मय में हुई है। अधिक विस्तृत विवेचन न कर यहां केवल दो स्फुट विचार रख देना उपयुक्त होगा।

वैदिक ऋषि ने किसी अज्ञात परा शक्ति से प्रार्थना की थी -

"मुझे असत् से सत् की ओर ले चल।
"मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चल।
"मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चल।"

कितने उदात्त हैं ऋषि के ये शब्द !

"असतो मा सद्गमय।
"तमसो मा ज्योतिर्गमय।
"मत्योर्माऽमृतं गमय।"

वैदिक ऋषि की यह प्रार्थना सब काल के लिए मानवता की सर्व-श्रेष्ठ प्रार्थना है। वैदिक युग की साधना और उसकी आशा-आकांक्षाओं की पूरी अभिव्यक्ति यहां हुई है। अब इस प्रार्थना के साथ हम उन उद्-

गारों को मिलायें, जिन्हें अभिसम्बोधि प्राप्त करते हुए भगवान् बुद्ध ने प्रथम बार प्रकट किया था।

"अविद्या (असत्) नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई।
"अन्धकार नष्ट हुआ, प्रकाश उत्पन्न हुआ।
"अमृत के द्वार खोल दिये गए हैं।"
अहो! गम्भीर बुद्ध की वाणी!
"अविज्जा विहता, विज्जा उप्पन्ना।
"तमो विहतो, आलोको उप्पन्नो।
"अपारुता अमतस्स द्वारा।"

भगवान् बुद्ध ने अक्षरशः वही प्राप्त किया है, जिसकी प्रार्थना वैदिक ऋषि ने की थी। आकस्मिक होते हुए भी शब्दों और भावनाओं के क्रम तक में कितनी भारी समानता है, यह दोनों आध्यात्मिक अनुभवों की सच्चाई की द्योतक है। सम्पूर्ण औपनैषदिक साहित्य को छान डालने पर भी एक भी ऋषि का ऐसा उदाहरण न मिलेगा, जिसने अपने अनुभव के आधार पर इतनी परिपूर्णता के साथ घोषित किया हो कि उसकी अविद्या नष्ट हो चुकी है, अन्धकार विदीर्ण हो गया है और उसने अमृत को पा लिया है। कुछ ऋषियों ने अमृत-प्राप्ति की कुछ झाँकी अवश्य दी है, परन्तु वैदिक ऋषि की प्रार्थना के तीनों अवयवों की परिपूर्ण प्राप्ति का दावा किसी ऋषि का वैदिक साहित्य में हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वैदिक युग के लिए यह एक प्रार्थना है, आकांक्षा है। उसकी प्राप्ति तथागत की बोधि के रूप में हुई है। भारतीय आध्यात्मिक विकास का यह एक ऐतिहासिक क्रम है। प्रार्थना और प्राप्ति का यह क्रम-विकास ध्यान का एक सुन्दर विषय है। अतः पुनरुक्ति दोष को स्वीकार करके भी इसे पुनः रखना होगा—

प्रार्थना	प्राप्ति
मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो।	असत् (अविद्या) नष्ट हुआ, सत् (विद्या) उत्पन्न हुआ।

मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो।	अन्धकार नष्ट हुआ, प्रकाश उत्पन्न हुआ।
मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो।	अमृत के द्वार खोल दिए गये हैं।

इस प्रकार वैदिक और बौद्ध धर्म का सम्बन्ध वस्तुतः प्रार्थना और उस प्रार्थना की प्राप्ति का सम्वन्ध है। वैदिक आकांक्षा ने क्रियात्मक रूप उस ज्ञान में प्राप्त किया है, जिसे मनुष्य-श्रेष्ठ ने साक्षात्कार किया। 'यं सच्छिकासि मनुस्ससेट्ठो'। इसीलिए बुद्ध का ज्ञान नवीन भी है और पुरातन भी। वह नवीन है, क्योंकि अनुभव के रूप में उनसे पहले अन्य किसीने उसे प्राप्त नहीं किया। वह पुरातन है, क्योंकि जिसे उन्होंने प्राप्त किया उसकी कल्पना साधकों को पहले से भी थी और उसके मार्ग पर वे काफी अग्रसर भी हुए थे। वस्तुतः बुद्ध का अनुभव वैदिक ज्ञान की संगति है, उसका पूरक है, उसका निश्चयात्मक विकास है।

कहा गया है कि बुद्धत्व प्राप्त कर लेने पर भगवान् बुद्ध को उपदेश करने की इच्छा नहीं हुई। इसपर ब्रह्मा को चिन्ता हुई। उन्होंने जाकर तथागत से प्रार्थना की, "हे शोकरहित ! शोक-मग्न, जन्म-जरा से पीड़ित जनता की ओर देखो। हे सुमेध ! धर्म रूपी प्रासाद पर चढ़कर इस दुःखी जनता को देखो। उठो वीर ! हे संग्रामजित् ! हे सार्थवाह ! उऋण-ऋण ! जग में विचरो ! धर्म प्रचार करो।" ब्रह्मा वैदिक युग के सर्वमान्य देवता हैं। ब्राह्मण-संस्कृति के वह प्रतीक हैं। ब्रह्मा का बुद्ध को उपदेश करने के लिए आमन्त्रित करना वस्तुतः सम्पूर्ण वैदिक धर्म का बौद्ध धर्म को आमन्त्रित करना है। ब्रह्मा की प्रार्थना सम्पूर्ण वैदिक धर्म की प्रार्थना है। वैदिक धर्म की श्रेष्ठतम साधना की मांग है कि बुद्ध जैसे महात्मा आविर्भूत हों और वे उपदेश करें। बुद्ध और बौद्ध धर्म को देखने की सही दृष्टि यही है।

: ७ :

बौद्ध और वेदान्त दर्शन : एक समन्वय

भगवान् बुद्ध ने एक जगह कहा है, "भिक्षुओ ! बिजली के कड़कने पर दो प्राणी नहीं चौंक पड़ते। कौन से दो ? एक मृगराज सिंह और दूसरा क्षीणमल अर्हत्।" मृगराज सिंह क्यों नहीं चौंक पड़ता ? क्योंकि उसका 'अहं' इतना प्रबल होता है कि उसे अपना कोई प्रतिद्वन्द्वी ही दृष्टि नहीं आता, जिससे वह भय की आशंका करे। क्षीणास्रव अर्हत् क्यों नहीं चौंक पड़ता ? क्योंकि जिसे भय उत्पन्न होता है, वह 'अहं' ही उसका पूर्णतः निरुद्ध किया हुआ है। मृगराज सिंह और निष्पाप अर्हत्, यही दो प्राणी संसार में पूर्णतः निर्भय हैं।

मृगराज सिंह को ही वेदान्त कहना चाहिए। यह आत्म-प्रसार का धर्म है। अपनी क्षुद्र व्यक्तिगत चेतना को इतना प्रसारधर्मी बनाना कि उससे सारा जड़चेतनात्मक जगत् ढंक जाय, यही वेदान्त है। आत्म-दर्शन या आत्म-ज्ञान का अर्थ है अपने में सारे जगत् और सारे जगत् में अपनेको देखना। यहां न भय का अवकाश है और न शोक, द्वेष, मोह का। कारण, यहां अपने से अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता ही नहीं है। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, यहां सब सधती हैं।

निष्पाप अर्हत्, यह बौद्ध साधना का निर्वचन है। अर्हत् देखता है कि इस भौतिक और मानसिक जगत् में सब प्रवाहशील है। जो प्रवाहशील है, वह नित्य नहीं है और जो अनित्य है, वह सुख नहीं है। अतः चाहे रूप हो, चाहे वेदना, चाहे संज्ञा, चाहे संस्कार, चाहे विज्ञान, चाहे अन्दरूनी, चाहे बाहरी, चाहे अपना, चाहे पराया—सभी अनित्य है, दुःख है। जो अनित्य है, वह दुःख है। क्या उसके विषय में यह कहना ठीक होगा कि यह मेरा 'आत्मा' (अत्ता) है ? नहीं। इसलिए जो

भी रूप है, वेदना है, संज्ञा है, संस्कार है, विज्ञान है, वह सब 'न मैं हूं,' 'न वह मेरा है', 'न वह मेरा आत्मा है'। तथागत का साक्षात्कार किया हुआ अनात्म (अनत्ता) तत्त्व यही है।

वेदान्त जब यह कहता है—"मैं देह नहीं," "मैं इन्द्रिय नहीं", "मैं अहंकार नहीं", "मैं प्राणवर्ग नहीं," "मैं बुद्धि नहीं," तो वह दूसरे शब्दों में केवल अनात्म तत्त्व का ही चिन्तन करता है। और दूसरी ओर मैत्रीपूर्ण चित्त से दिशाओं को अप्लावित करता हुआ भिक्षु ध्यान की प्रथम अवस्था में ही "नानात्व संज्ञा के प्रहाण" को कर चुकता है। बिना अद्वैत के शून्य नहीं है और बिना शून्य के अद्वैत की निष्ठा अधूरी है। और फिर यह भी सोचना चाहिए कि अनात्मवादी (बुद्ध) के समान आत्म-विस्तार भी इतिहास में किस आत्मज्ञानी का हुआ है? बौद्ध और वेदान्त दर्शनों के समन्वय का मार्ग इसी दिशा से होकर जाता है।

: ८ :

बौद्ध धर्म में श्रद्धा का स्थान

बौद्धधर्म बुद्धि-प्रधान धर्म है। उसे 'एहिपस्सिक' धर्म कहा गया है, जिसका अर्थ है 'आओ और देख लो'। विश्वास को यहां कोई स्थान नहीं है। वैज्ञानिक प्रक्रिया के समान खोज और परीक्षण उसके साधन हैं और विश्लेषण उसका मार्ग है। सत्य उसके लिए एक खोज करने की वस्तु है, पहले से तैयार की हुई देने-लेने के लिए नहीं। इसलिए मनुष्य को बांधने का प्रयत्न यहां बिलकुल नहीं किया गया है। बौद्ध धर्म की यह एक ऐसी विशेषता है, जो उसे संसार के अन्य सब धर्मों से अलग कर देती है।

बौद्धधर्म के बुद्धिवादी दृष्टिकोण के कारण उसे आधुनिक युग में काफी लोकप्रियता मिली है। वैज्ञानिक मन को संतोष देने में जितना यह धर्म समर्थ हुआ है, उतना अन्य कोई नहीं। यूरोप में, उन्नीसवीं

शताब्दी में, जब धर्म और विज्ञान का संघर्ष चल रहा था, यूरोपीय विचारकों का इस धर्म से परिचय हुआ। यहां उन्हें एक ऐसा अद्‌भुत धर्म मिला, जिसकी न केवल मान्यताएं विज्ञान से संगत थीं, बल्कि जिसके सोचने का पूरा तरीका वैज्ञानिक था। इस धर्म से परिचय पा कर यूरोप के विचारकों को कितना आश्वासन मिला है, यह इसीसे जाना जा सकता है कि उनमें से एक (सर फ्रांसिस यंगहस्‌वेण्ड) ने कहा है कि बुद्ध-उपदेशों को समझने का वास्तविक समय अब पच्चीस सौ वर्ष बाद आया है, और एक दूसरे (बरट्रेंड रसल) ने अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा है कि, "यदि मैं किसी धर्म को अपनाऊंगा तो वह बौद्धधर्म ही होगा।" बौद्धधर्म के निरन्तर बढ़ते हुए प्रभाव के ये शब्द संकेत भर हैं। जिस धर्म के प्रभाव में आधे से अधिक मानव-समाज पहले भी आ चुका है उसे, या यदि अधिक ठीक कहें तो उसके मार्ग को (क्योंकि मार्ग से अतिरिक्त बौद्ध धर्म और कुछ नहीं है), ज्ञान और मानवता के विकास के लिए आगे चलकर यदि पूरा विश्व अपना ले, तो यह कोई आश्चर्य की बात न होगी। जैसा कि एक जापानी सम्राट् ने कहा था—संसार में कोई ऐसा प्राणी नहीं है, जो बुद्ध-धर्म से प्रभावित न हो, यदि यह उसके सामने रक्खा जाय।

इसे एक युग-धर्म की ही बात समझना चाहिए कि बौद्ध धर्म के विशेषतः बुद्धिवाद ने इस युग में लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया है। बौद्ध धर्म के ऐसे अनेक गुण हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोगों को भिन्न-भिन्न युगों में आकृष्ट करते रहेंगे। यहां केवल एक सूक्ष्म भय यह है कि कहीं इनमें से किसी एक गुण का अतिवाद न कर बैठें, जिससे हम तथागत के मन्तव्य से दूर जा पड़ें। बुद्ध-मन्तव्य इतना परिपूर्ण है जितना सत्य। दूसरे शब्दों में हम इसे यों कह सकते हैं कि मध्यम-मार्ग से तथागत ने धर्म का उपदेश दिया है। 'मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति'। यह बात हमें बुद्ध-धर्म के प्रकृत रूप को समझने में सदा याद रखनी चाहिए।

कोरा बुद्धिवाद मनुष्य को प्रकृतिवाद या भौतिकवाद में ले जायगा, जिस प्रकार कोरा श्रद्धावाद अन्ध-विश्वास में। बौद्ध धर्म दैवी विश्वास

पर तो आधारित है ही नहीं, वह भौतिकवाद से भी उतना ही दूर है। जहांतक वह प्रज्ञा के विकास पर जोर देता है, बौद्ध धर्म एक विज्ञान है। परन्तु जहां वह प्रज्ञा की व्याख्या 'कुशलचित्त-संयुक्त ज्ञान' के रूप में करता है, वह विज्ञान से आगे बढ़कर नैतिक दर्शन बन जाता है और विज्ञान का पथ-प्रदर्शन करता है। बुद्धिवादी व्याख्या पर खरा उतरते हुए भी वह बौद्धिक नहीं है। इसलिए उसमें श्रद्धा की महिमा अपने ढंग से सुरक्षित है, यह हम उसके स्वरूप के विवेचन से अभी देखेंगे।

भगवान् बुद्ध ने जिस ज्ञान को प्राप्त किया, उसे उन्होंने 'अतर्कावचर' बताया है। 'अतर्कावचर' का अर्थ है तर्क से अप्राप्य। सत्य या बोधि की प्राप्ति बौद्धिक ऊहापोह से नहीं हो सकती। जैसा कठोपनिषद् के ऋषि ने कहा था 'यह मति तर्क से प्राप्त नहीं की जा सकती' (नैषा तर्केण मतिरापनेया)। यही अर्थ 'अतर्कावचर' शब्द में निहित है। बौद्धिक ज्ञान से अतीत इस गम्भीर सत्य को प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम किस बात की आवश्यकता होगी, इसे बताते हुए ज्ञान-प्राप्ति के ठीक बाद ही भगवान् ने कहा था, "अमृत के द्वार खुल गये हैं। जिनके कान हैं, वे श्रद्धा की ओर मुड़ें।" बुद्ध-धर्म चित्त-शुद्धि के लिए था और चित्त-शुद्धि का लक्ष्य था निर्वाण। निर्वाण या पूर्ण विशुद्धि के लिए तथागत ने पुरुषार्थ को ही प्रधान साधन बताया था। यह सार्थक है कि बौद्ध परिभाषा में 'प्रधान' शब्द का अर्थ ही पुरुषार्थ है। वीर्य और अप्रमाद इसीके दूसरे नाम हैं। वीर्य और अप्रमाद के रूप में देखना ही बौद्ध साधना को उसके वास्तविक रूप में देखना है। परन्तु वीर्यारम्भ के लिए प्रेरणा या शक्ति कहां से मिलेगी ? बुद्धि से तो नहीं मिल सकती, क्योंकि क्रिया में प्रवृत्त कराने की उसमें शक्ति नहीं है, उसका सम्बन्ध हृदय से नहीं है। इसका अक्षय स्रोत तो श्रद्धा ही है, जो हृदय से उत्पन्न होती है और जिसे भगवान् ने एक 'बल' माना है, एक 'इंद्रिय' या जीवनी-शक्ति कहा है। बौद्ध धर्म में पांच इंद्रियां (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा) और सात बल (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, ह्री और अपत्राप्य या पाप-भय) माने गए हैं। उनमें श्रद्धा को प्रथम

स्थान प्राप्त है। इसका कारण यह है कि उत्पन्न होते ही श्रद्धा चित्त-मलों को दूर कर देती है। जैसा कहा भी गया है, "सद्धा उप्पज्जमाना नीवरणे विक्खम्भेति।"

श्रद्धा चित्त में उत्पन्न हुई है, इसका लक्षण ही यह है कि सारा मन प्रसन्नता से भर जाता है, मनुष्य की चेतना एकदम शान्ति और आध्यात्मिक 'प्रसाद' में डूब जाती है। श्रद्धा का लक्षण करते हुए 'मिलिन्द-प्रश्न' में कहा गया है "**सम्पसादनलक्खणा सद्धा**" अर्थात् श्रद्धा का लक्षण है संप्रसाद, चित्त का प्रसन्न होना, शान्त होना, उत्साह से भर जाना। 'मिलिन्द-प्रश्न' ईसवी सन् के करीब की रचना है। बौद्ध जीवन-साधना ने हमें जो कुछ दिया है, उससे हमें यह आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि योगसूत्र के भाष्यकार व्यास ने, जिनका समय पांचवीं शताब्दी ईसवी माना गया है, हू-ब-हू बौद्ध परिभाषा को स्वीकार करते हुए कहा है '**श्रद्धा चेतसः संप्रसादः**' (व्यासभाष्य १।२०)। क्या श्रद्धा की इस सर्वोत्तम परिभाषा के लिए भी हम बौद्ध साधना के ऋणी हैं? न केवल व्यास-भाष्य, बल्कि योगसूत्रों (तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व) पर भी बौद्ध प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है, यह इसी प्रसंग में इससे जाना जा सकता है कि असंप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के लिए उन्होंने बौद्ध साधना की पांच इंद्रियों का उल्लेख किया है, यद्यपि 'इंद्रिय' शब्द का निर्देश उन्होंने नहीं किया है। "**श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्**" (योगसूत्र १।२०)। इस सूत्र की व्यास-भाष्य में जो व्याख्या की गई है, वह बौद्ध-मन्तव्य और शब्दावली का बिल्कुल अनुसरण करती है, इसे विस्तार से दिखाने की यहां आवश्यकता नहीं है। हमारा अभिप्राय यहां केवल यह दिखाना है कि श्रद्धा चित्त की वह प्रसाद-मयी अवस्था है, जो एक ओर साधक को उन्नत आध्यात्मिक अवस्थाओं को अनुभव करने के लिए उत्साहित करती है और दूसरी ओर संशयादि चित्त-मलों को दूर कर चित्त को शान्ति प्रदान करती है। श्रद्धा से ही वीर्य उत्पन्न होता है। वीर्यारम्भ करनेवाले की स्मृति ठहरती है। जिसकी स्मृति ठहरी हुई है, उसीका चित्त समाधिमग्न होता है और चित्त की समाधि से ही प्रज्ञा मिलती है, जिससे साधक यथाभूत ज्ञान-दर्शन को प्राप्त करता है। इस साधना-

क्रम का आरम्भ प्रसाद-रूप श्रद्धा से ही होता है। इसकी सच्चाई की गवाही गीता में भी संक्षेपतः इन शब्दों में दी गई है। "**प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते**"। संशय या अश्रद्धा को जिस प्रकार गीता में विघ्न माना गया है और अज्ञ और अश्रद्धालु के विनाश की बात कही गई है, उसी प्रकार संशय या विचिकित्सा (विचिकिच्छा) को बौद्ध साधना में चित्त का एक कांटा बताया गया है। "जो भिक्षु शास्ता के प्रति संदेह करता है, उनके प्रति श्रद्धा नहीं रखता, प्रसन्न नहीं होता, उसका चित्त संयम, योग और प्रधान (पुरुषार्थ) की ओर नहीं झुकता।" इसलिए जहां कहीं पालि-त्रिपिटक में साधक का वर्णन आया है, वहां सबसे पहले यही बात कही गई है—'यहां भिक्षु श्रद्धा से युक्त होता है' (इध भिक्खु सद्धाय समन्नागतो होति) आदि। इसलिए हम कह सकते हैं कि बौद्ध साधना का प्रस्थान-बिन्दु बुद्धि नहीं, बल्कि श्रद्धा है और जैसा बृहदारण्यक उपनिषद् के ऋषि ने कहा है, "श्रद्धा की प्रतिष्ठा हृदय में है"—"**हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता**"। दानादि के प्रसंग में जिस प्रकार श्रद्धा की प्रशंसा वैदिक ग्रंथों में की गई है, उसी प्रकार बौद्धसाहित्य में श्रद्धा को सम्पूर्ण पुण्यकारी वस्तुओं का आधार बताया गया है। सुत्त-निपात के कसि भारद्वाज-सुत्त में भगवान् बुद्ध अमृत की खेती करते दिखाये गए हैं। उसका बीज वहां श्रद्धा को ही बताया गया है। श्रद्धा की बार-बार अभ्यास की गई अवस्था को ही आचार्य बुद्धघोष ने भक्ति कहा है (**पुनप्पुनं भजनवसेन सद्धा वा भत्ति**) और भक्ति अनिवार्यतः प्रेम (पेम) से सम्बन्धित है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि बौद्ध साधना श्रद्धा से प्रेमरूपा भक्ति की ओर न मुड़कर प्रज्ञा रूपिणी भावना की ओर बढ़ गई है, जो विवेक और विरति से अधिक सम्बन्धित है। जैसा गीता के उपदेश में अन्तर्हित है, योग की तो दोनों जगह ही आवश्यकता है और 'भावना' से भी शान्ति और सुख की सिद्धि होती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध साधना में श्रद्धा और बुद्धि का

समन्वय है। उसकी श्रद्धा 'प्रज्ञान्वया' है। प्रज्ञा से युक्त होने पर ही श्रद्धा मुक्ति का साधन बनती है। साधना का आरम्भ तो श्रद्धा से ही होता है, परन्तु अन्त में उसे प्रज्ञा से बेधना पड़ता है। बीच के विकास की कड़ियां भी बताई गई हैं, जिन्हें मज्झिम-निकाय के चंकि-सुत्तन्त से भली प्रकार समझा जा सकता है।

श्रद्धा के द्वारा विमुक्त होने की बात भगवान् ने अनेक बार कही है। "श्रद्धा के द्वारा मनुष्य भव-बाढ़ को तरता है" (**सद्धाय तरती ओघं**)। ऐसा उन्होंने अनेक बार आश्वासन दिया है। पिंगिय नामक ब्राह्मण विद्यार्थी को उन्होंने अनेक उदाहरण देते हुए श्रद्धा द्वारा मुक्त हो जाने के लिए उत्साहित किया था। भगवान् ने उससे कहा था, "जिस प्रकार वक्कलि, भद्रायुध और आलवि गोतम श्रद्धा द्वारा मुक्त हुए, उसी प्रकार पिंगिय ! तुम भी श्रद्धा को उपस्थित करो। तुम मृत्यु को पार कर जाओगे।" इस प्रकार श्रद्धा द्वारा भगवान् ने विमुक्ति को सिखाया है।

तथागत की 'प्रज्ञान्वया श्रद्धा,' इस अस्त-व्यस्त जीव-लोक के लिए, जिसके बौद्धिक और भावात्मक सन्तुलन खोये हुए हैं, सचमुच एक वरदान की वस्तु है।

: ६ :

बुद्ध-शासन में निब्बाण

जहां तक भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों का संबंध है, निब्बाण (निर्वाण) आध्यात्मिक अनुभव की एक अवस्था का नाम है। कुछ विशिष्ट अर्थों में उसे चित्त की अवस्था-विशेष भी कहा जा सकता है। बौद्धिक ऊहापोह का तो उसे स्थविरवादी तत्व-दर्शन में कभी विषय बनाया नहीं गया, जैसा प्रायः बौद्ध दर्शन के उत्तरकालीन विकास में हमें दिखाई पड़ता है। भगवान् बुद्ध ने निर्वाण का उपदेश दिया। परन्तु

निर्वृत्त होकर वह स्वयं यहां, इस जीवन में, रहे। यही उनका सर्वोत्तम उपदेश था। निर्वाण का आधार जीवन में है। वह एक वास्तविकता है, दिट्ठ धम्म (दृष्ट धर्म) है, देखी हुई वस्तु है। जीवन की विशुद्धि ही विमुक्ति के रूप में साधक के लिए प्रकटित होती है। यही निर्वाण है। विशुद्धि और निर्वाण दोनों एक हैं। आचार्य बुद्धघोष ने अत्यन्त सार्थकतापूर्वक कहा है "विसुद्धीति सब्बमलविरहितं अच्चन्तपरिसुद्धं निब्बानं वेदितब्बं।" चूल-वियूह-सुत्त (सुत्त-निपात) में भी निर्वाण को अंतिम शुद्धि कहा गया है। यह अन्तिम शुद्धि-रूपी निर्वाण केवल बुद्धि के चिन्तन या विमर्श के द्वारा प्राप्य नहीं। उसे जीवन में साक्षात्कार करना पड़ेगा, जिसके लिए आध्यात्मिक प्रयास की आवश्यकता है।

निब्बाण वस्तुतः अहंभाव को विसर्जित करनेवाले पुरुष की परम सुख-अवस्था का नाम ही है। वह ब्रह्मचर्य का अंतिम फल है। इस फल में प्रतिष्ठित एक साधक भिक्षु को देखकर भगवान् बुद्ध ने उल्लास-पूर्वक कहा था, "ऊपर, नीचे, सभी ओर से मुक्त हो गया! 'यह मैं हूं' इस भ्रम में वह नहीं पड़ता। इस प्रकार मुक्त हो भव-सागर से तर जाता है।" एक दूसरे मुक्त पुरुष को देखकर भगवान् ने उद्गार प्रकट किया था, "निर्दोष, शुद्ध, श्वेत आसनवाला एक ही धुरावाला रथ आ रहा है। इस निष्पाप को आते हुए देखो, जिसका स्रोत बन्द हो गया है, जो बन्धन से छूट गया है।" निब्बाण दुःख-विमुक्ति की अवस्था तो है ही, उसे निश्चिततम अर्थों में परम सुख की अवस्था भी कहा गया है। "निब्बाणं परमं सुखं।" निर्वाण वह 'अ-मानुषी रति' है, जो धर्म का सम्यक् दर्शन करने से उत्पन्न होती है। वह निर्विषय मन का आनन्द है। ऐसा सुख है, जो निरामिष है, आलम्बन की अपेक्षा से रहित है, अतीन्द्रिय है। इसी सुख का अनुभव करते हुए बिना हिले-डुले, खाये-पिये, तथागत कई सप्ताहों तक एक आसन से समाधि-अवस्था में बैठे रहे थे। यही आनन्द था, जिसके कारण वह अपने को राजा मागध श्रेणिक बिम्बिसार से भी अधिक सुखी मानते थे। उनके शिष्यों में से भी अनेक ने इस रस को चक्खा था। "अहो सुख! अहो सुख!" कहने वाले भद्दिय स्थविर ने इसी अवस्था का साक्षात्कार किया था।

"अहो ! मैं कितनी सुखी हूं। मैं कितने सुख से ध्यान करती हूं !" यह कहनेवाली भिक्षुणी ने भी इस अमृत को पाया था, यह निःसंदेह है। "जान लिया ! जान लिया !" का उद्गार करनेवाले ज्ञानी कौण्डिन्य ने इसी परम सुख की अनुभूति की थी। परन्तु निर्वाण-संबंधी कुछ अत्यन्त संप्रहर्षक उद्गार तो भगवान् बुद्ध की औरस कन्याओं स्वरूप कुछ साधिकाओं ने ही किये हैं, जिन्होंने इस अनुभव की विरासत को अपने शास्ता से पाया था। 'थेरी-गाथा' में सात भिक्षुणियों ने अलग-अलग अपनी निर्वाण-प्राप्ति की सूचना देते हुए उल्लासपूर्वक कहा है, "मैं निर्वाण प्राप्त कर परम शान्त हुई हूं। निर्वृत्त होकर मैं शीतलता स्वरूप हो गई हूं।" "सीतिभूतम्हि निब्बुता"। परम शान्ति ही इन भिक्षुणियों के लिए निर्वाण है। भिक्षुणी वड्ढमाता ने निर्वाण-सुख का अनुभव करते हुए कहा था, "अफुसिं सन्तिमुत्तमं," अर्थात् "मैंने उत्तम शांति में प्रवेश किया है।" सुत्त-निपात के मेत्त-सुत्त में भी निर्वाण के लिए 'शान्त पद' (सन्तं पदं) शब्द का व्यवहार किया गया है।

भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार महासमुद्र का केवल एक रस होता है लवण-रस, उसी प्रकार उनके द्वारा उपदिष्ट धम्म-विनय का भी केवल एक रस है और वह है विमुक्ति। विमुक्ति ही ब्रह्मचर्य का चरम उद्देश्य है। विमुक्ति ही निर्वाण है, ऐसा भगवान् बुद्ध ने स्वयं कहा है, "राध ! विमुक्ति का अर्थ है निर्वाण।" एक अन्य जगह भगवान् ने निर्वाण को विमुक्ति का आधान भी बताया है। "भिक्षुओ ! विमुक्ति का आधान निर्वाण है।" पुनरुक्ति करते हुए भगवान् ने मज्झिम-निकाय के धातु-विभंग-सुत्तन्त में भी कहा है, "भिक्षु ! यही परम आर्य सत्य है, जो कि यह अविनाशी निर्वाण।"

भगवान् बुद्ध जन्म, जरा-मरण, दुःख-शोक से विमुक्ति के खोजी थे। उसे उन्होंने निर्वाण के रूप में ही पाया था। निर्वाण उनके लिए आत्यन्तिक दुःख-विमुक्ति की अवस्था थी। वह तथागत की मृत्यु पर विजय थी। पालि तिपिटक में अनेक बार निर्वाण को अमृत-पद कहा गया है, जो बड़ा सार्थक है। "मैंने अमृत को पा लिया है", इन शब्दों में भगवान् ने अपनी सत्य-प्राप्ति की सूचना सर्वप्रथम संसार को दी

थी । धर्मसेनापति सारिपुत्र ने भी इन्हीं शब्दों में अपनी सत्य-प्राप्ति की सूचना अपने मित्र महामोग्गल्लान को दी थी । भगवान् ने अमृत की ओर ले जानेवाले मार्ग के रूप में ही मध्यम मार्ग का उपदेश दिया था । उसीके सम्बन्ध में उनका कहना था, "भिक्षुओ ! ध्यान दो । मैंने अमृत को पाया है । मैं उसका तुम्हें उपदेश करता हूं ।" बोधि-प्राप्ति के बाद भगवान् का पहला उद्गार था, "अमृत के द्वार खुल गये हैं ।" परन्तु यह अमृत क्या है ? बुद्ध-शासन की परिभाषा में राग, द्वेष और मोह का जो क्षय है, वही अमृत कहलाता है । यही अमृत जिसने पा लिया है, उसे भगवान् 'ब्राह्मण' कहते हैं । चार स्मृति-प्रस्थानों की भावना से इस अमृत की प्राप्ति होती है, ऐसा भगवान् ने संयुत्त-निकाय में कहा है । एक सुन्दर उपमा के द्वारा भगवान् ने निब्बाण को एक रमणीय भूमि- भाग कहा है, जहां जाने के मार्ग को तथागत जानते हैं । वहां जाने का जो सीधा मार्ग है, वही आर्य अष्टांगिक मार्ग है । इसी प्रकार एक अन्य सुन्दर उपमा के द्वारा भगवान् ने शरीर को एक राजा का नगर बताया है, जिसके छह इन्द्रिय-आयतन छह दरवाजों के समान हैं । इस नगर का द्वार-रक्षक स्मृति है और राजा मन है । इस मन रूपी राजा के पास शमथ और विपश्यना रूपी दो सन्देशवाहक आते हैं, जो सत्य का संदेश लाते हैं । जिस मार्ग से ये सन्देशवाहक आते-जाते हैं, वह आर्य अष्टांगिक मार्ग है और सत्य के जिस सन्देश को वे लाते हैं, वह है निर्वाण । निर्वाण के सिद्धान्त का प्रख्यापन बुद्ध-शासन की एसी कोई बड़ी विशेषता नहीं है । विशेषता है निर्वाण और उसकी प्राप्ति के उपाय-स्वरूप आर्य अष्टांगिक मार्ग की परस्पर संगति । निर्वाण के अनुरूप मार्ग है और मार्ग के अनुरूप निर्वाण । यही तात्पर्य है बुद्ध-धर्म को 'सु-आख्यात' कहने का । "जिस प्रकार गंगा की धारा यमुना में मिलती है और मिलकर एक हो जाती है, इसी प्रकार निर्वाणगामिनी प्रतिपदा निर्वाण के साथ मिलती है, मिलकर एक हो जाती है ।" निर्वाण के मार्ग का इस जीवन में विशोधन करना चाहिए, इसके लिए बुद्ध-शासन हमें उत्साहित करता है । मलों के क्षय से जबतक अपने चित्त को पूर्ण वि-शुद्ध न कर लो, तबतक चैन न लो, यही उन कल्याणकारी शास्ता का

हमारे लिए उपदेश है। अतः अ-प्रमाद की बड़ी आवश्यकता है निर्वाण-साधना के लिए। इसीलिए कहा गया है, "वीर्य-रत भिक्षु निर्वाण के समीप ही है।" जैसे-जैसे साधक पंचस्कंधों की उत्पत्ति और विनाश पर विचार करता है, वह ज्ञानियों की प्रीति और प्रमोद रूपी अमृत को पाता है, जिसका ही दूसरा नाम निर्वाण है। भगवान् बुद्ध अमृत पद-रूपी निर्वाण का उपदेश करते थे, इसका सर्वोत्तम साक्ष्य भिक्षुणी चापा ने दिया है, जिसने अपने पति उपक के बुद्ध-दर्शन के संबंध में कहा है, "उसने सम्यक् सम्बुद्ध को अमृत-पद का उपदेश करते देखा।" भिक्षुणी सुजाता ने कहा था कि उसने निर्मल धर्म-रूपी 'अमृत पद' को पाया है। चूंकि इस अमृत-पद रूपी निर्वाण को बिना जीवन की पूर्ण विशुद्धि के कोई नहीं पा सकता, इसीलिए बुद्धोपदिष्ट साधना का सार-संकलन करते हुए धर्मसेनापति सारिपुत्र ने सदा के लिए स्मरणीय शब्दों में कह दिया है, "**आयुष्मानो! यह जो राग का क्षय, द्वेष का क्षय और मोह का क्षय है, यही कहलाता है निर्वाण।**"

: १० :

ब्रह्मचर्य का बौद्ध आदर्श

ब्रह्मचर्य सभी साधनों का मेरुदण्ड है, ऐसा सभी शास्त्रकारों ने माना है। कोई भी सदाचार ब्रह्मचर्य की अनुपस्थिति में नहीं ठहरता। तत्व-दर्शन-सम्बन्धी अनेक सूक्ष्म विभिन्नताएं होते हुए भी जीवन-साधना की इस केन्द्रीय परिस्थिति को सभी दर्शनकारों ने स्वीकार किया है। स्थूल वीर्य-रक्षा से लेकर सूक्ष्म आन्तरिक विशुद्धि तक ब्रह्मचर्य-साधन की अनेक भूमियाँ फैली हुई हैं। ब्रह्म-साक्षात्कार की इच्छा करते हुए जिस ब्रह्मचर्य को पालन करने का उपदेश दिया गया है, उसकी परि-णति इस अन्तिम मार्ग तक ही है। भगवान् बुद्ध ने जिस 'केवल-परिपूर्ण' ब्रह्मचर्य का अपने व्यक्तित्व और उपदेशों से प्रचार किया, वह वास्तव में वही प्राचीन आर्य-मार्ग था, जिससे देवताओं ने मृत्यु को जीता था।

परम ब्रह्म की प्राप्ति वैदिक साधना का लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य को साधन बताया गया है। "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।" बुद्ध ने मानव-जीवन की चरम सफलता दुःख के प्रहाण में देखी। इस प्रकार लक्ष्य की अभिव्यक्ति में कुछ अन्तर अवश्य है, परन्तु साधन में बिल्कुल नहीं है। भगवान् बुद्ध मानते थे कि ब्रह्मचर्य के जीवन से ही दुःख का आत्यन्तिक प्रहाण सम्भव है, उसके बिना बिल्कुल नहीं। इसीलिए भिक्षु-पद की दीक्षा देते समय वह प्रत्येक व्यक्ति से कहते थे, "आओ भिक्षु ! सम्यक् रूप से दुःख का अन्त करने के लिए ब्रह्मचर्य का आचरण करो"। ("एहि भिक्खु चर ब्रह्मचरियं सम्मा दुक्खस्स अन्तकिरियाय"।) इस अनित्य भव में बुद्ध ब्रह्मचर्य के अभ्यास को ही वास्तविक सार की बात मानते थे। उनके मुख से निकले हुए ये शब्द स्मरणीय हैं, "जो हुए हैं और होंगे, वे सब मर जायंगे। इसे जानकर पण्डित जन संयम के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करें।"

ब्रह्मचर्य के साधन और लक्ष्य के विषय में बुद्ध-शासन में गम्भीर और विस्तृत विवेचन है। पर उस सबको न लेकर हम यहां केवल उसके एक स्वरूप को लेते हैं। विशुद्ध ब्रह्मचर्य सभी स्थूल और सूक्ष्म मैथुन संयोगों से युक्त न होना चाहिए। ये मैथुन-संयोग कई प्रकार के हो सकते हैं। इन के विषय में भगवान् कहते हैं—

"ब्राह्मण ! यहां एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नहीं भी करता, परन्तु वह स्त्री के द्वारा (स्नान-चूर्ण आदि) उबटन किये जाने, मले जाने, स्नान कराये जाने और मालिश किये जाने को स्वीकार करता है, वह उसमें रस लेता है, उसकी इच्छा करता है, उसमें प्रसन्नता अनुभव करता है, ब्राह्मण ! यह ब्रह्मचर्य का टूट जाना है, छिद्रयुक्त हो जाना है, चितकबरा हो जाना है, धब्बा पड़ जाना है। ब्राह्मण ! ऐसे पुरुष के लिए कहा जायगा कि वह मैथुन (स्त्री-सहवास) से युक्त होकर ही मलिन ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा है। वह जन्म से, जरा से, मरण से नहीं छूटता... नहीं छूटता दुःख से—मैं कहता हूं।

"फिर ब्राह्मण ! यहां एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी

होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास भी नहीं करता और न स्त्री के द्वारा अपने उबटन, मालिश आदि किये जाने को स्वीकार करता है, परन्तु वह स्त्री के साथ हास्य-विनोद करता है, मजाक करता है, क्रीड़ा करता है, केलि करता है, उसमें रस लेता है.... दुःख से नहीं छूटता मैं कहता हूं।

"फिर ब्राह्मण ! यहां एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास भी नहीं करता, उसके उबटन आदि किये जाने को भी स्वीकार नहीं करता और न उसके साथ हँसी-मजाक ही करता है, परन्तु वह स्त्री को नजर भरकर देखता है, आंख गड़ा कर देखता है, उसमें रस लेता है .. दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूं।

"फिर ब्राह्मण ! यहां एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास भी नहीं करता, उसके उबटन आदि किये जाने को भी स्वीकार नहीं करता, उसके साथ हँसी-मजाक भी नहीं करता और न उसको आंख गड़ाकर देखता ही है, परन्तु वह दीवार या चहारदीवारी की ओट से छिपकर स्त्री के शब्द को सुनता है, जबकि वह हँस रही हो, या बात कर रही हो, या गा रही हो, या रो रही हो, उसमें रस लेता है....दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूं।

"फिर ब्राह्मण ! यहां एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास भी नहीं करता, उसके उबटन आदि किये जाने को भी स्वीकार नहीं करता, उसके साथ हँसी-मजाक भी नही करता, उसको आंख गड़ा कर देखता भी नहीं और दीवार की ओट से उसके शब्द को भी नहीं सुनता, जब कि वह गा रही हो या रो रही हो, परन्तु वह अपने उन हँसी-मजाकों, संलापों और क्रीड़ाओं को स्मरण करता है, जो उसने पहले कभी स्त्री के साथ किये थे। वह उसमें रस लेता है।....दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूं।

"फिर ब्राह्मण ! यहां एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी

होने का दावा करता है और न वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता है, न उसके द्वारा उबटन आदि किये जाने को स्वीकार करता है, न उसके साथ हँसी-मजाक करता है, न उसे आंख गड़ाकर देखता है, न उसके शब्द को सुनता है जबकि वह गा रही हो या रो रही हो और न उसके साथ किये हुए अपने पूर्व हँसी-मजाकों और संलापों को ही स्मरण करता है, परन्तु वह किसी अन्य गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र को पाँच काम-सुखों का आनन्द लेते, उनमें लीन होते देखता है। वह उसमें रस लेता है।....दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूं।

"फिर ब्राह्मण ! यहां एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और न वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता है, न उसके द्वारा उबटन आदि किये जाने को स्वीकार करता है, न उसके साथ हँसी-मजाक करता है, न उसे आंख गड़ा कर देखता है, न उसके शब्द को सुनता है, जबकि वह गा रही हो या रो रही हो, न उसके साथ किये अपने के हँसी-मजाकों को स्मरण करता है और न किसी गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र को पांच काम-सुखों में तल्लीन होकर उनको सेवन करते देखकर रस लेता है, परन्तु वह ब्रह्मचर्य का आचरण यह सोचकर करता है कि इस प्रकार के ब्रह्मचर्य के अभ्यास से मैं बाद में कोई देव या देव-विशेष हो जाऊंगा, वह इसकी इच्छा करता है, इसमें रस लेता है। तो ब्राह्मण ! यह भी ब्रह्मचर्य का टूट जाना है, चित-कबरा हो जाना है, धब्बेदार हो जाना है। इसलिए कहा जाता है कि इस प्रकार का मनुष्य मैथुन के संयोग से युक्त, मलिन ब्रह्मचर्य का ही आचरण कर रहा है और वह जन्म से, जरा से, मरण से नहीं छूटता। नहीं छूटता दुःख से—मैं कहता हूं।"

उपर्युक्त बुद्ध-वचन ब्रह्मचर्य-साधन की भूमियों का बड़ी सूक्ष्मता-पूर्वक निरूपण करते हैं। सभी साधकों के लिए ये मननीय हैं।

: ११ :

अशुभ-भावना का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण

अशुभ-भावना मन के विकार को शान्त करने का एक साधन है। मार की सेना को छिन्न-भिन्न करने के लिए यह एक अमोघ अस्त्र है, जिसे मार-विजयी मुनि ने दिया है। जिस प्रकार शरीर की स्थिति के लिए आहार आवश्यक है, उसी प्रकार साधना के लिए इसकी आवश्यकता मानी गई है। आयुष्मान् राहुल को अशुभ-भावना का उपदेश देते हुए भगवान् ने कहा है, "राहुल ! अशुभ भावना का अभ्यास कर। अशुभ-भावना का अभ्यास करते जो तेरा राग है, वह सब चला जायगा।" पातंजल-योग में जिसे 'अभ्यास-वैराग्य' कहा गया है, या गीता में "पुत्र-पत्नी-गृहादि में दुःख-दोषानुदर्शन" का जो विधान किया गया है या "अनित्यमसुखं लोकम्" और "ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते" के रूप में जिस सत्य की स्मृति कराई गई है, वे सब अशुभ भावना के ही रूप हैं। बौद्ध योग-साधन में इन्हें एक व्यवस्थित और अधिक स्पष्ट रूप अवश्य मिल गया है। 'कायगता सति' (कायगता स्मृति) अर्थात् अपनी काया-सम्बन्धी जागरूकता का बौद्ध साधक के लिए बहुत महत्त्व है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जो 'कायगता सति' नहीं करता, वह यह नहीं जानता कि अमृत क्या है, परन्तु जिसने इस ध्यान का अभ्यास किया है, उसने अमृत को पा लिया है और वह यह जानता है कि अमृत क्या है। इस प्रकार 'कायगता सति' करना और अमृत पाना बुद्ध के लिए दोनों एक बात हैं। 'कायगता सति' में शरीर की बत्तीस गन्दगियों पर ध्यान किया जाता है, शरीर की रचना का सूक्ष्म मनन कर उसके यथार्थ रूप को देखा जाता है, शरीर की प्रत्येक क्रिया में स्मृति या मानसिक सावधानी बरती जाती है और यह अनुभव किया जाता है कि यह काया न 'मैं' है और न 'मेरी' है। अपनी

और पराई दोनों ही कायाओं में यह ध्यान किया जाता है और बुद्ध भगवान् ने महासतिपट्ठान-सुत्त में इसका विस्तृत रूप से उपदेश दिया है। उन्होंने विशुद्धि के लिए 'एकायन मार्ग' के रूप में चार 'स्मृति-प्रस्थानों' का उपदेश दिया है, जैसे कि काया में कायानुपश्यना, वेदनाओं में वेदनानुपश्यना, चित्त में चित्तानुपश्यना और धर्मों में धर्मानुपश्यना। इस प्रकार काया में कायानुपश्यना या कायगता सति बौद्ध साधना के चार प्रस्थानों में प्रथम है और उसका अभ्यास साधकों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। सम्पूर्ण आन्तरिक और बाह्य संसार को बौद्ध साधक अनित्य, दुःख और अनात्म समझता है। इस सम्बन्धी ध्यान ही विपस्सना (विदर्शना) कहलाता है और वह अशुभ भावना के बिना सम्भव नहीं है। अशुभ-भावना का तात्त्विक विवेचन करना यहां हमारा लक्ष्य नहीं है। अशुभ-भावना क्या है, इसे दिखाने के लिए यहां केवल एक उदाहरण का निदर्शन हम करना चाहते हैं, जिसे आचार्य बुद्धघोष ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विशुद्धिमार्ग' (विसुद्धिमग्गो) में दिया है। वह इस प्रकार है।

चैत्य पर्वत (श्री लङ्का) पर महातिष्य नामक एक भिक्षु रहते थे। एक दिन भिक्षा के लिए वह चैत्य पर्वत से अनुराधपुर की ओर जा रहे थे। रास्ते में उन्हें एक स्त्री मिली, जो अपने पति से झगड़ा कर अनुराधपुर से अपने जातिवालों (माता-पिता) के घर जा रही थी। वह वस्त्राभरणों से पूर्णतः अलंकृत थी। प्रसन्न-छवि भिक्षु को देखकर उस पर अनुरक्त हो गई। अनेक हाव-भाव किये और भिक्षु को कामासक्त करने का प्रयत्न किया। परन्तु भिक्षु ध्यानी थे, अशुभ की भावना किये हुए थे। रमणी ने भिक्षु की ओर स्मित किया। उसके हँसते हुए मुख से उसके चमकीले दांत भिक्षु को दिखाई पड़े। स्थविर की पूर्व-भावित अशुभ-भावना, जो उन्होंने हड्डी को आलम्बन मानकर की थी, जाग पड़ी। अरे, ये तो मांस में संटी हुई हड्डियां हैं! फिर शरीर का सारा अस्थि-पंजर उनकी ध्यान-वीथियों में होकर गुजर गया। अनित्य! दुःख! अनात्म! वहीं खड़े-खड़े स्थविर की ताली लग गई। इतनी भारी पवित्रता कहां ठहरे? पूर्ण विशुद्धि ही पूर्ण विमुक्ति के रूप में

फूटकर निकलने लगी। बौद्ध परिभाषिक शब्दों में स्थविर को अर्हत्त्व की प्राप्ति हो गई—

तस्सा दन्तट्ठिकं दिस्वा, पुब्बसञ्ञं अनुस्सरि।
तत्थेव सो ठितो थेरो, अरहत्तं अपापुणि॥

अर्हत् महातिष्य वहीं खड़े-खड़े ध्यान-सुख अनुभव कर रहे थे कि इतने में उस स्त्री का पति, उसकी खोज करते-करते, उसके पीछे आ निकला। स्थविर को देखकर उसने पूछा, "भन्ते ! क्या आपने इधर से जाती हुई किसी स्त्री को देखा है ?" स्थविर ने उत्तर दिया—

नाभिजानामि इत्थी वा पुरिसो वा इतो गतो।
अपि च अट्ठिसंघातो गच्छते स महापथे॥

"वत्स ! मैं नहीं जानता कि इधर से स्त्री गई या पुरुष। हां, हड्डियों के एक भारी ढेर को मैंने अवश्य इस महापथ से जाते देखा है।"

स्थविर महातिष्य की विजय ही सबसे बड़ी विजय है। इसके अलावा और कोई विजय संसार में नहीं है। स्थविर महातिष्य की स्मृति को हमारा प्रणाम है !

: १२ :

क्रोध का शमन कैसे करें ?

क्रोध एक ऐसा मनोभाव है, जो उत्पन्न होते ही मनुष्य के सौमनस्य को नष्ट कर देता है, उसे दुःख की स्थिति में ले जाता है। पर-अनिष्ट की भावना क्रोध में अन्तर्हित रहती है, और जिस हृदय में यह उत्पन्न होता है उसे भी जलाता है। अतः आत्म-पीड़ा-जनक और पर-पीड़ा-जनक यह भाव है। क्रोधी मनुष्य कभी अहिंसक नहीं बन सकता। जिसे क्रोध विहित है, उसे हिंसा भी विहित है, ऐसा कहा जा सकता है।

क्रोध क्यों उत्पन्न होता है ? मनुष्य क्यों क्रोध करते हैं ? अतृप्त कामना से क्रोध की उत्पत्ति है, 'काम से क्रोध उत्पन्न होता है'। कामना

के कारण व्यक्ति एक दूसरे से लड़ते हैं, झगड़ते हैं, कठोर वाणी से एक दूसरे को बेधते हैं, कामना के कारण ही वर्ग-संघर्ष है, राष्ट्रों का एक दूसरे से संघर्ष है। व्यष्टि और समष्टि में व्याप्त यह काम-मूलक क्रोध जीवन को क्षुब्ध बनाये हुए है। प्रति-शरीर शम के अभ्यास से इसके वेग को घटाया जा सकता है।

सम्पूर्ण निष्कामता में क्रोध की पूर्ण विमुक्ति रखी हुई है। परन्तु यह लम्बे और तीव्र प्रयत्नों से साध्य है। इच्छाओं से मुक्त होना साधारण जीवन में सम्भव नहीं है। परन्तु अभ्यास से इच्छाओं को घटाया जा सकता है। जैसे-जैसे हम सांसरिक वस्तुओं की अनित्यता और दुःखमयता का चिन्तन करते हैं, हमारी इच्छाएं कम होने लगती हैं, हमारी आवश्यकताएं घटने लगती हैं और धीरे-धीरे वह आधार ही टूटने लगता है, जिसका सहारा लेकर काम-क्रोधादि शम-प्रतिपक्षी शत्रु आकर हमें पीड़ित करते हैं। शमात्मक धर्म के उपदेष्टा (भगवान् बुद्ध) ने कहा है कि चित्त के अनेक दोष सम्यक् विमर्श के द्वारा दूर किये जा सकते हैं। क्रोध का शमन करने के लिए मन का अभ्यास क्या है ?

क्रोध की अत्यन्त साधारण और प्राथमिक अभिव्यक्ति कड़ी वाणी में होती है। जिसे कड़े शब्द बोलने की आदत है, उसे सोचना चाहिए कि दूसरों के पास भी जीभें हैं। एक बार की बात है कि भगवान् बुद्ध के तिष्य नामक एक भिक्षु-शिष्य उनके पास उदास और बेमन आकर बैठ गये। भगवान् ने पूछा, "तिष्य ! तू उदास और बेमन क्यों है ?" तिष्य ने उत्तर दिया, "भन्ते ! मेरे साथी भिक्षु मुझसे कड़ी वाणी बोलते हैं, मेरे साथ ठीक व्यवहार नहीं करते।" भगवान् जानते थे कि स्वयं तिष्य की वाणी में विष है। उन्होंने उससे कहा, "तिष्य ! तेरे साथी भिक्षु तुझे पीड़ित करते हैं। इसका कारण यह है कि तेरे जीभ है और तू दूसरों की जीभ को सहन नहीं कर सकता। तेरे लिए यह उचित नहीं है कि तू स्वयं तेज जबान रखे और दूसरों की तेज जबान को सहन न करे। जिस किसीकी तेरे समान जीभ हो, उसे दूसरों की जीभ को भी सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

तिष्य ! रोष मत कर। तेरे लिए विनम्रता श्रेष्ठ है। क्रोध को रोकना श्रेठ है। इसीके लिए ब्रह्मचर्य का जीवन बिताया जाता है।"

क्रोध से क्रोध को हम कभी जीत लेंगे, यह शक्य नहीं। अ-क्रोध से क्रोध को जीता जाता है, इसे भगवान् बुद्ध ने 'सनातन धर्म' कहा है। विश्व के किसी शास्ता को इसमें विवाद नहीं है। गाली को हमें सहन ही करना पड़ेगा, यदि हम सत्य के अभिमुख होना चाहते हैं। भिक्षु फग्गुण को गालियां दी गई थीं। भगवान् ने उससे कहा, "फग्गुण ! चाहे तेरे सामने कोई तेरी शिकायत करे, या हाथ से पीटे भी, या ढेले से, दण्ड से, शस्त्र से प्रहार भी करे, तो भी फग्गुण ! तू सब सांसारिक विचारों को छोड़ना; जो तेरे भीतर घर किये वितर्क हैं, उन्हें छोड़ना। वहां फग्गुण ! तुझे इस प्रकार सोचना चाहिए—मेरे चित्त में विकार नहीं आने पायेगा, दुर्वचन मैं मुंह से नहीं निकालूंगा, द्वेष-रहित हो दूसरे के प्रति मैत्री-भाव रखूंगा, अनुकम्पक हो विहरूंगा। फग्गुण ! इस प्रकार तुझे अपनेको शिक्षित करना चाहिए"।

ऐसा हो सकता है कि क्रोध हमारे अन्दर विद्यमान रहे और उसे अभिव्यक्त न कर हम शान्त पुरुष की पदवी पाते रहें। मज्झिम-निकाय के ककचूपम-सुत्तन्त में वैदेहिका गृह-पत्नी का उदाहरण दिया गया है। श्रावस्ती की यह गृहस्वामिनी अपने सौम्य स्वभाव के लिए प्रसिद्ध थी। परन्तु एक दिन अपनी दासी पर बुरी तरह बिगड़ पड़ी और उसे पीटा भी। वह अन्दर से उपशान्त नहीं थी। इस स्थिति को प्रयत्नपूर्वक दूर करना होगा, जीवन का गहरा प्रत्यवेक्षण करना होगा। कड़ी-से-कड़ी परिस्थिति में अपनी परीक्षा करनी पड़ेगी। लोग हमसे कड़ी बात बोल सकते हैं, हमारी झूठी निन्दा कर सकते हैं, हमपर मिथ्या अभियोग लगा सकते हैं। हर अवस्था में हमें इस प्रकार मन का अभ्यास करना चाहिए, "मैं अपनें चित्त को विकार-युक्त न होने दूंगा और न दुर्वचन मुंह से निकालूंगा, मैत्री-भाव से हितानुकम्पी होकर विहरूंगा। उस विरोधी व्यक्ति को भी मैत्री-पूर्ण चित्त से आप्लावित कर विहरूंगा। उसको लक्ष्य कर सारे लोक को मैत्रीपूर्ण चित्त से इतना आप्लावित करूंगा, जिसका कोई परिमाण नहीं है।" ये शब्द उन अनुकम्पक शास्ता के हैं

जिन्होंने आज से ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व अपने शिष्यों के सामने खड़े हुए कहा था 'ऐसा तुम्हें सीखना चाहिए'' ।

मैत्री-भावना क्रोध का प्रतिपक्षी साधन है । जिसने मैत्री भावना का अभ्यास किया है, उसे क्रोध उत्पन्न नहीं हो सकता । यदि कोई कहे कि उसने मैत्री भावना का अभ्यास किया है और फिर भी क्रोध या द्वेष उसके चित्त को दूषित किये हुए है, तो यह बात बुद्ध मानने को तैयार नहीं हैं । प्रकाश और अन्धकार साथ-साथ नहीं रह सकते । जिस प्रकार शंख बजानेवाला शंख की ध्वनि से चतुर्दिक् वातावरण को गुंजायमान कर देता है, उसी प्रकार मैत्री-भावना से सम्पूर्ण दिशाओं को, सारे विश्व-मंडल को, आपूरित कर देने के लिए भगवान् बुद्ध ने आदेश दिया है, जो चित्त का एक पूर्ण योग है । उसका प्रभाव बाहरी जगत् पर पड़ता है, ऐसा योग-दर्शन का साक्ष्य है । अ-क्रोध और सहिष्णुता की साधना कितनी दूर जा सकती है, इसका एक उत्तम उदाहरण हम भिक्षु पूर्ण के जीवन में देखते हैं । भिक्षु पूर्ण भगवान् बुद्ध के शिष्य थे और वर्तमान ठाणा और सूरत के आस-पास के प्रदेश (सूनापरान्त) में धर्म-प्रचारार्थ जाना चाहते थे । अनुमति मांगने के लिए भगवान् बुद्ध के पास गये और दोनों में इस प्रकार संलाप चला—

"भन्ते ! सूनापरान्त नामक जनपद है, मैं वहां विहार करूंगा"

"पूर्ण ! सूनापरान्त के मनुष्य क्रोधी और कठोर हैं, वे तुझे कुवाच्य कहेंगे तो तू क्या करेगा ? "

"भन्ते ! मैं सोचूंगा कि सूनापरान्त के मनुष्य भद्र हैं कि मुझे हाथ से नहीं मारते"

"यदि हाथ से मारें तो ?"

"सोचूंगा कि वे भद्र हैं कि मुझपर डंडे से प्रहार नहीं करते"

"यदि डंडे से प्रहार करें तो ?"

"फिर भी सोचूंगा कि वे भद्र हैं कि शस्त्र से नहीं मारते, शस्त्र से मेरे प्राण नहीं ले लेते ।"

"यदि तुझे तीक्ष्ण शस्त्र से मार डालें ?"

"भन्ते ! मैं सोचूंगा इस तुच्छ जीवन की समाप्ति के लिए मुझे

शस्त्र-हारक (शस्त्र से मारनेवाला) बिना खोजे ही मिल गया !"

"साधु पूर्ण ! साधु पूर्ण । इस प्रकार के शम से युक्त होकर तू सूनापरान्त जनपद में वास कर सकता है । तू जैसा उचित समझे, कर"

पूर्ण की-सी साधना से क्रोध और द्वेष का पूर्ण शमन किया जा सकता है ।

: १३ :

बुद्धकालीन लोक-जीवन

बौद्ध धर्म की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसका जनवादी स्वरूप है । यों भगवान् बुद्ध से पूर्व भी कुछ ऋषियों ने साधारण जन को ज्ञान की कल्याणकारी वाणी के सुनाने की बात कही थी । "इमां वाचं कल्याणी-मावदानि जनेभ्यः ।" परन्तु दूसरी ओर वैदिक परम्परा की एक रूढ़ि-गत मान्यता यह भी थी कि शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है ।[1] वह न संस्कार-योग्य है[2] और न यज्ञ का अधिकारी ।[3] यही कारण है कि सच्चे अर्थों में जन-जीवन का विकास वैदिक युग में सम्भव न हो सका । यदि जन-जीवन में शूद्र का, जो समाज के निचले स्तर का प्रतीक है, जीवन भी सम्मिलित है, तो उसका विकास हमें वैदिक धर्म में नहीं मिलता । ज्ञान के स्वत्व वहां पूर्णतः द्विजातियों के अधीन हैं । भगवान् बुद्ध इतिहास के सर्वप्रथम पुरुष हैं, जिन्होंने 'बहुजन-हित, 'बहुजन-सुख' और 'लोक की अनुकम्पा' को अपने धर्म-चक्र की धुरी

---

१. न च शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति, उपनयनपूर्वकत्वाद्वेदाध्ययनस्य । उपनयनस्य च वर्णत्रय-विषयत्वात् । ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर भाष्य १।३।३४; अधिक उग्र भावना के लिये देखिये वहीं १।३।३८ पर शाङ्कर-भाष्य । 'यस्य हि समीपेऽपि नाधेतव्यं भवति स कथमश्रुतम-धीयीत । भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति'।

२. ...न च संस्कारमर्हति । मनु० १०।६

३. तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः । तैत्तिरीय संहिता ७।१।१।६

बनाया ! उनके 'बहुजन-हित' और 'बहुजन-सुख' की परिधि से शूद्र बहिष्कृत नहीं थे, बल्कि उन्हींको लक्ष्य कर 'बहुजन-हित' शब्द का प्रयोग किया गया था। व्यापक लोक-कल्याण को ध्यान में रखकर भगवान् तथागत ने न केवल धर्मोपदेश किया, बल्कि उसे समाज-निर्माण का आधार भी बनाया। मानवता सर्वप्रथम भारत में 'चातुर्वर्णी शुद्धि' के रूप में आई और उसके लानेवाले भगवान् बुद्ध थे। मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई जातिगत भेद नहीं है, इसको दिखाने का वासेट्ठ-सुत्त[1] से अधिक स्पष्ट वैज्ञानिक आधार मनुष्य सम्भवतः कभी प्रस्तुत नहीं कर सकेगा। मानव-अधिकारों का वह घोषणा-पत्र, जिसे भगवान् बुद्ध ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व 'अस्सलायण-सुत्तन्त'[2] के रूप में तैयार किया था, आज भी हमारे लिए उतना ही नवीन है। स्वभावतः समाज के पीड़ित और पद-दलित निचले स्तर को, जो किसी-न-किसी प्रकार अपमान और शोषण का शिकार रहा है, बौद्धधर्म ने सदा एक अतुलनीय आश्वासन दिया है। जाति (जन्म) और वर्ण (रंग) की बाधा को दूर कर सदा उसने उसके लिये ज्ञान के मार्ग को खोलने का प्रयत्न किया है। जन-जीवन के प्रकृत विकास का सभी दृष्टियों से बौद्ध धर्म का इतिहास एक लेखा रहा है। लोक-संस्कृति के बीज का प्रथम आरोपण हमें बौद्ध धर्म के रूप में ही मिलता है।

बौद्धधर्म के जनवादी स्वरूप को देखते हुए यह कुछ आश्चर्यजनक न लगेगा कि 'जनता' शब्द का बिल्कुल आधुनिक अर्थ में प्रयोग हमें सर्वप्रथम बौद्ध साहित्य में ही मिलता है। मगध और कोसल के कुछ लोग भगवान् बुद्ध से मिलने वैशाली की कूटागारशाला में आये थे। उनके आने की सूचना देते हुए भगवान् बुद्ध के सेवक शिष्य ने उनसे कहा था, "भन्ते ! अच्छा हो यदि यह जनता भगवान् के दर्शन पाये।" "साधु भन्ते ! लभतं एसा जनता भगवन्तं दस्सनाय।"[3] इसी प्रकार हम जानते

---

१. मज्झिम-निकाय (२।५।८)
२. मज्झिम-निकाय (२।५।३)
३. महालि-सुत्त (दीघ. १।६)

हैं कि जैसे ही भगवान् ने ज्ञानप्राप्त किया था, ब्रह्मा ने उनसे प्रार्थना की थी, "हे शोक-रहित ! आप इस शोक-मग्न जनता को देखें।" "सोकावतिण्णं जनतं अपेतसोको अवेक्खस्सु ।"[1] बौद्ध धर्म सच्चे अर्थों में जनता का, जाति-वर्ण-निर्विशेष लोक समूह का, धर्म था।

परन्तु इसके साथ ही वह उससे ऊपर भी था। 'लोकानुकम्पा' से प्रेरित होने पर भी वह उन लौकिक (लोकिय) बातों का प्रशंसक नहीं था, जिनमें साधारण जनता रमती है। जनता की प्रशंसा पाना उसका लक्ष्य नहीं था। इसीलिए जन-जीवन को वह इतना ऊपर भी उठा सका। अब हम बुद्धकालीन लोक-जीवन की अवस्था पर कुछ दृष्टिपात करेंगे, जैसा कि वह पालि साहित्य में चित्रित है।

आजकल की भाँति बुद्ध-काल में भी अधिकांश भारतीय जनता गांवों में ही निवास करती थी। बुद्ध-काल में छोटे-से-छोटे और बड़े से बड़े गांव थे। जातक-कथाओं में हमें ऐसे अनेक गांवों के उल्लेख मिलते हैं, जिनमें से किन्हींके परिवारों की संख्या कुल तीस ही थी, किन्हीं-की ५०० और किन्हींमें एक हजार परिवार तक रहते थे। सबसे छोटे गांव को 'गामक' कहा जाता था। साधारणतः तीस से लेकर पचास तक घर ही उसमें होते थे। आजकल जिसे हम नगला कहते हैं, उसे गामक समझना चाहिए। 'गाम' साधारण गांव होता था, जिसमें 'गामक' से अधिक परिवार होते थे। 'द्वार गाम' वे कहलाते थे, जो किसी बड़े नगर के द्वार पर स्थित होते थे। इन्हें आजकल के उपनगर जैसे समझने चाहिए। 'पच्चन्त गाम' (प्रत्यन्त ग्राम) वे गांव कहलाते थे, जो दो राष्ट्रों या जनपदों की सीमा पर स्थित हों। इस प्रकार के गांवों का जीवन, विशेषतः युद्ध-काल में, अस्त-व्यस्त हो जाता था और उनकी जन-संख्या भी प्रायः अल्प और बिखरी हुई होती थी। सबसे बड़े गांव वे थे, जो 'निगम-गाम' कहलाते थे। इसकी जनसंख्या निगम से कम और गाँव से अधिक होती थी। इन्हें आजकल के छोटे कस्बों के समान माना जा सकता है।

---

१. विनय-पिटक-महावग्ग।

भगवान् बुद्ध ने एक बार भविष्यवाणी की थी कि मैत्रेय बुद्ध के आविर्भाव के समय "यह जम्बुद्वीप समृद्ध और सम्पन्न होगा। ग्राम, निगम, जनपद और राजधानी इतने निकट होंगे कि एक मुर्गी भी कुदान भरकर एक घर से दूसरे घर पहुँच जाय।.........सरकण्डे के वन की तरह जम्बुद्वीप मानो नरक पर्यन्त मनुष्यों की आबादी से भर जायगा।"[1] भगवान् बुद्ध की यह भविष्यवाणी उनके समय की समृद्धि और निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या के आकलन पर ही आधारित हो सकती थी। परन्तु हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जम्बुद्वीप में अधिकतर भूमि अभी जंगलों से ढंकी हुई थी। उसे साफकर कृषि-योग्य बनाया जा रहा था। लोगों को अधिक-से-अधिक सन्तान की अभिलाषा रहती थी। परन्तु अभी जम्बुद्वीप 'नरक-पर्यन्त' आबादी से नहीं भरा था!

आज की तरह बुद्ध-काल में भी भारतीय जनता का मुख्य पेशा कृषि था। राजा का यह कर्तव्य माना जाता था कि उसके जनपद में जो लोग कृषि करना चाहते हों, उन्हें वह बीज-भात (बीज-भत्तं) दे। कृषि-कर्म (कसि कम्म) उस समय किसी जाति-विशेष का पेशा नहीं माना जाता था। हम मगध के एकनाला ब्राह्मण-ग्राम के कसि भारद्वाज ब्राह्मण को ५०० हल (पंचमत्तानि नंगलसतानि) लेकर जुताई करवाते देखते हैं। मज्झिम-निकाय के गोपक-मोग्गल्लान-सुत्तन्त से हम जानते हैं कि मगध का गोपक मोग्गल्लान ब्राह्मण भी कृषक था। पिप्पलि माणवक (बाद में स्थविर महाकाश्यप) के यहां भी खेती होती थी। बुद्ध-काल में भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों के रूप में बंटी हुई थी, जिसपर अलग-अलग परिवार खेती करते थे और फसल काटकर अपने-अपने घर लाते थे। परन्तु एक प्रकार का सामूहिक अधिकार भी सम्पूर्ण गांव की भूमि पर माना जाता था, जिसे 'गाम खेत्त' कहा जाता था और जिसके सम्बन्ध में 'गामिक' या 'गामभोजक' के विशेष कर्तव्य और अधिकार होते थे और एक व्यक्ति या परिवार को अपने भाग की भूमि को बेचने के अधिकार सीमित थे। पूरे गांव के सामूहिक खेत या

---

१. चक्कवत्ति-सीहनाद-सुत्त (दीघ.३।३)

'गामखेत्त' में भिन्न-भिन्न परिवारों के अलग-अलग खेतों के टुकड़े होते थे, जो मेंड़ों या पानी की नालियों के द्वारा एक दूसरे से विभक्त होते थे, या कहीं-कहीं स्तम्भ (पालि, थम्भे) भी लगा दिये जाते थे। मगध के खेतों का यह दृश्य भगवान् बुद्ध को सुहावना लगा था और इसीके प्रेरणा-स्वरूप उन्हें भिक्षुओं के चीवर बनवाने की कल्पना मिली थी। "देखते हो आनन्द, मगध के इन मेंड़-बंधे, कतार-बंधे, मर्यादा-बंधे, चौमेंड़-बंधे खेतों को। क्या आनन्द, भिक्षुओं के लिए ऐसे चीवर बना सकते हो?" कपड़े के भिन्न-भिन्न टुकड़ों को सींकर बनाये गये भिक्षु-चीवर सचमुच आकार में मेंड़-बंधे (अच्चिवद्धं), मर्यादा में बंधे (मरियादा-बद्धं) और चौमेंड़ बंधे (सिंघाटक-वद्धं) 'मगध खेत्तं' के समान ही लगते थे, जिसमें छोटे-छोटे आकार के अनेक खेत जुड़े हुए थे। सुवण्ण-कक्कट जातक में एक हजार करीस (लगभग ८००० एकड़) क्षेत्रफल के एक खेत का उल्लेख है। यह खेत राजगृह की पूर्व दिशा में सालिन्दिय नामक ब्राह्मण-ग्राम में था। सालिकेदार जातक में भी एक बड़े क्षेत्रफल के खेत का वर्णन है, जिसमें नौकरों के द्वारा खेती की जाती थी।

जिस ढंग से बुद्ध-काल में खेती की जाती थी, वह प्रारंभिक और उस युग के अनुरूप ही था। हल और बैल तो भारतीय कृषि-कर्म के अनिवार्य अंग हैं ही, उस समय भी हलों में बैल जोड़कर खेत जोते जाते थे जैसे कि आज। सीहचम्म जातक तथा अन्य कई जातकों में इस प्रकार खेत जोतने के उल्लेख हैं। साधक भिक्षु-भिक्षुणियों को अनेक बार याद दिलाया गया है, "हलों से खेत को जोतकर और धरती में बीज बोकर मनुष्य धन प्राप्त करते हैं और अपने स्त्री-पुत्रों का पालन-पोषण करते हैं ... तुम भी बुद्ध-शासन को क्यों नहीं करते, जिसे करके पीछे पछताना नहीं पड़ता।" आश्चर्यजनक लगते हुए भी यह सत्य है कि हल जोतने के काम को बुद्ध-काल में राष्ट्रीय महत्व का काम समझा जाता था। शाक्य लोग तो बोने का एक उत्सव (वप्पमंगलं) ही मनाते थे, जिसमें एक हजार हल साथ-साथ चलते थे और अमात्यों के सहित राजा भी स्वयं हल चलाता था। यह महापर्व इस बात का द्योतक है कि कृषि-कर्म उस समय अत्यन्त गौरवास्पद काम समझा जाता था और जनता

के साथ राजा भी उसमें भाग लेना अपना कर्तव्य समझता था। बुद्ध-कालीन भारत में किसानों का जीवन सुखी और समृद्ध था और वे शस्य की सम्पन्नता से युक्त थे। स्थविर ब्रह्मालि ने थेरगाथा में उद्गार करते हुए अत्यन्त अनायास रूप से कहा है, "मैंने सुना है, मगध-निवासी लोग शस्य की पूर्णता से युक्त हैं, वे सुखजीवी हैं।" कृषि के साथ गोरक्षा का अटूट और अनिवार्य सम्बन्ध है, इसीलिए दीघ-निकाय के कूटदन्त-सुत्त तथा मज्झिम-निकाय के एसुकारि-सुत्तन्त में 'कसि-गोरक्खे' (कृषि-गौरक्ष्य) का सार्थक द्वन्द्व-समास प्रयुक्त किया गया है।[1] बुद्ध-काल में गौ का सम्मान था, स्वयं भगवान् बुद्ध ने गायों को माता-पिता, भाई और बन्धु-बान्धवों की तरह परम मित्र और अन्नदा, बलदा, वर्णदा और सुखदा कहा था।[2] गौ पशु पालन का प्रतीक है और बुद्ध-काल में हम पशु-पालन के कार्य को अत्यन्त उन्नत और व्यवस्थित अवस्था में पाते हैं। प्रत्येक गांव में निश्चित भूमि गोचर-भूमि के रूप में अलग छोड़ दी जाती थी, जिसपर उस गांवके सब पशु चर सकते थे। प्रतिदिन गोप या गोपालक (ग्वाला) आकर प्रत्येक घर के पशुओं को ले जाता था और चरागाह में दिनभर उन्हें चराने के बाद फिर वापस घरों पर पहुंचा जाता था। इसी प्रकार का एक ग्वाला, जिनका नाम नंद था, भगवान् बुद्धको एक बार मार्ग में गंगा के किनारे पशु चराते मिला था, जिसने भगवान् के उपदेश को सुना था। ग्वाला संविग्न होकर प्रव्रज्या के लिए याचना करने लगा, परन्तु भगवान् ने उससे कहा, "नन्द, तुम पहले मालिक की गायें लौटा आओ।" ग्वाले ने जब कहा कि गायें तो अपने बछड़ों के प्रेम में बंधी स्वयं चली जायंगी, तो सामाजिक नीति के मर्म को समझनेवाले भगवान् ने फिर उससे कहा, "तुम अपने मालिक की गाएं लौटाकर ही आओ।" ग्वालों के जीवन का भगवान्

---

१. मज्झिम-निकाय के महादुक्ख क्खन्ध सुत्तन्त और अंगुत्तर-निकाय के दोण-सुत्त में कृषि और गोरक्षा के साथ-साथ वाणिज्य को भी रक्खा गया है। मिलाइये 'कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यम्'। गीता १८। ४४

२. ब्राह्मण-धम्मिय-सुत्त (सुत्त-निपात)।

बुद्ध को गहरा और सूक्ष्म ज्ञान था। एक चतुर गोपालक के ग्यारह गुणों का वर्णन, जिनके द्वारा वह गो-यूथ की रक्षा करने के योग्य होता है, भगवान् ने मज्झिम-निकाय के महा-गोपालक सुत्तन्त में किया है। उन्होंने बताया है कि एक चतुर गोपालक को किस प्रकार गायों के वर्ण और लक्षण को जानने वाला होना चाहिए, घाव को ढाँकने वाला, काली मक्खियों को हटाने वाला, मार्ग, चरागाह और पानी को जानने वाला, सब दूध को न दुहने वाला और गायों के पितर और स्वामी जो वृषभ हैं, उनकी अधिक सेवा करने वाला होना चाहिए, आदि। इसी प्रकार इसी निकाय के चूल-गोपालक सुत्तन्त में भगवान् ने मगध के एक मूर्ख और एक बुद्धिमान् ग्वाले की उपमा देकर बताया है कि किस प्रकार मूर्ख ग्वाले ने वर्षा के अन्तिम मास में बेघाट गायें विदेह देश की ओर हांक दीं जिससे सब गायें गंगा की बीच धार में भंवर में पड़कर बह गईं, जबकि बुद्धिमान् ग्वाले ने घाट आदि के बारे में ठीक प्रकार सोच कर उन्हें हांका, जिससे वे कुशलता पूर्वक पार चली गईं। कुछ ग्वाले भगवान् बुद्ध के समय में ऐसे भी होते थे जो स्वयं अपनी गायें और अन्य पशु रखते थे। सुत्त-निपात के धनिय-सुत्त में वर्णित धनिय गोप ऐसा ही समृद्ध ग्वाला दिखाई पड़ता है जिसने अपने साफ-सुथरे घर, पशु-धन और सुखी जीवन का वर्णन इस प्रकार स्वयं भगवान् के सामने किया था, "भात मेरा पक चुका है, दूध दुह लिया गया है। मही (गंडक) नदी के तीर पर स्वजनों के साथ वास करता हूं ······ मक्खी-मच्छर यहां नहीं हैं ······ कछार में उगी घास को गायें चरती हैं ······ मैं आप अपनी ही मजदूरी करता हूं ······ मेरे तरुण बैल और बछड़े हैं। गाभिन गायें हैं और तरुण गायें भी और सबके बीच वृषभराज भी हैं।" हम जानते हैं कि १२५० गायों को आगे किए मेण्डक गृहपति ने भिक्षु-संघ सहित भगवान् का अंगुत्तराप प्रदेश में धारोष्ण दूध से सत्कार किया था। भोजन के समय से पूर्व किसी अतिथि के आजाने पर अक्सर उसे पहले दूध पिला कर बाद में भोजन के समय भोजन कराया जाता था। देश में पंच गोरसों दूध, दही, तक्र, नवनीत, और घी की कमी नहीं थी। मनुष्यों का जीवन मधुर और सुखी था। "मनुष्य अपने घरों में ताला

न लगाकर बच्चों को गोद में खिलाते हुए विहरते थे।" त्रिपिटक में ऐसा अनेक बार बुद्ध के काल के सम्बन्ध में कहा गया है।

बौद्ध धर्म ने स्त्रियों को गौरव दिया और उनको निर्वाण की अधिकारिणी माना, परन्तु बुद्ध के काल में साधारण स्त्रियों की अवस्था अच्छी नहीं कही जा सकती। लोक-समुदाय स्त्रियों को प्रायः पुरुष का भांड़ा, उत्तम भांड़ा मात्र, समझता था। "इत्थि भण्डानं उत्तमं।" परंतु भार्या के रूप में उसे उत्तम सखा भी बताया गया है "भरिया परमा सखा।" अंगुत्तर-निकाय में भगवान् बुद्ध ने सात प्रकार की पत्नियां बताई हैं, जिनमें दासी या सेविका के रूप में पत्नी को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। जातक की कहानियों में स्त्रियों के जो चरित्र खींचे गये हैं, वे सामान्य लोक-समाज से लिये गये है। इन कहानियों में अक्सर स्त्रियों के सदाचार को सन्देह की दृष्टि से देखा गया है। कहा गया है कि सत्य का होना स्त्रियों में बहुत दुर्लभ है। "सच्चं तेसं सुदुल्लभं।" मेले और उत्सव बुद्ध-काल में नगरों और गांवों में बहुत होते रहते थे और उनमें स्त्रियां पुरुषों के साथ भाग लेती थीं।

जातक-कथाओं में तथा अन्यत्र बुद्ध-काल में होने वाले अनेक खेल-तमाशों के वर्णन मिलते हैं। नगर के बाहर चारों ओर उद्यान और पुष्करिणियां होती थीं जहां जाकर नर-नारी मनोरंजन करते थे। नदियों और सरोवरों में उदक-क्रीड़ा के भी वर्णन मिलते हैं। उद्यानों में जाकर भी तरुण तरुणियां क्रीड़ा करते थे। कप्पासिय वनखण्ड में इसी प्रकार क्रीड़ा करते हुए कुछ तरुण-तरुणियां भगवान् बुद्ध को मिले थे। नृत्य, गीत और आख्यानों के अभिनयों से युक्त 'समज्जा' या समाजें बुद्ध-काल में होती थीं। राजगृह में पर्वत-शिखर पर होने वाले 'गिरग्ग-समज्जा' का उल्लेख अक्सर मिलता है।

बुद्ध-काल में साधारण जन-समाज में अनेक प्रकार के मनोरंजन के साधन प्रचलित थे, जिन्हें भिक्षुओं की जीवन-दृष्टि के अनुसार अच्छा नहीं माना गया है। इस प्रकार के कुछ मनोरंजन के साधन थे, नाटक, बाजे, नृत्य, गीत, लीला, ताल देना, घड़े पर तबला बजाना, गीत-मण्डली, लोहे की गोली का खेल, बांस का खेल, हरिण-युद्ध, अश्व-युद्ध, महिष-

युद्ध, वृषभ-युद्ध, बकरों का युद्ध, भेड़ों का युद्ध, मुर्गों का युद्ध, बत्तक का लड़ाना, लाठी का खेल, मुष्टि-युद्ध, कुश्ती, मारपीट का खेल, लड़ाई की चालें आदि, जिनका दीघ-निकाय के ब्रह्मजाल-सुत्त में वर्णन है। भिक्षु को इनसे विरत रहने के लिये कहा गया है। अनेक प्रकार के जुए के खेल भी उस समय के लोक-समाज में प्रचलित थे। ब्रह्मजाल-सुत्त में अष्टपद, दशपद, आकाश, परिहारपथ आदि अठारह प्रकार के जुए के खेलों का नाम-निर्देश किया गया है। राजा भी अपने पुरोहितों के साथ जुआ खेलते थे (पुरोहितेन सद्धि जूतं कीलन्ति)। नटों के द्वारा रस्सी पर नाच दिखाना बुद्ध-काल का एक लोक-प्रिय मनोरंजन था। इसी प्रकार नाच दिखाने वाली एक नटिनी के प्रेम में राजगृह का उग्रसेन नामक एक श्रेष्ठि-पुत्र पड़ गया था और वह भी उसी काम को करने लगा था। एक नट और उसके शिष्य मेदकथालिका के परिसंवाद का एक अंश स्वयं भगवान् बुद्ध ने संयुत्त-निकाय के सेदक-सुत्त में एक उपमा के लिए प्रयुक्त किया है। खिलाड़ी बांस को ऊपर उठा, अपने शागिर्द मेदकथालिका से बोला—मेदकथालिके! इस बांस के ऊपर चढ़कर मेरे कंधे के ऊपर खड़े हो जाओ! "बहुत अच्छा" कहकर मेदकथालिका बांस के ऊपर चढ़ खिलाड़ी के कन्धे के ऊपर खड़ा हो गया। तब खिलाड़ी अपने शागिर्द मेदकथालिका से बोला, "मेदकथालिके! देखना तुम मुझे बचाना और मैं तुम्हें बचाऊंगा। इस प्रकार सावधानी से एक दूसरे को बचाते हुए खेल दिखायेंगे, पैसा कमाएंगे और कुशलता से बांस के ऊपर चढ़कर उतरेंगे।" पहलवानी की कला भी बुद्ध-काल में प्रचलित थी। जातक में मल्लयुद्ध का वर्णन है, जिसमें दो पहलवान दंगल की भूमि (मल्लमण्डलं) में उतरते, एक दूसरे से हाथ मिलाते, अपने भुजदण्डों को ठोंकते और परस्पर भिड़ते दिखाये गये हैं। इसी प्रकार धनुर्धारियों को भी हम लाल कच्छा और सुनहरी कंचुक पहने धनुष की टंकार करते हुए मैदान में उतरते देखते हैं। सुरा और मेरय (कच्ची शराब) पीने का रिवाज बुद्ध-काल में जन-साधारण में था। जहां-तहां पानागार बने हुए थे। वेश्यालय भी थे। अम्बपाली, पदुमवती, सालवती, सिरिमा, सुलसा और अड्ढकासी बुद्ध-काल की प्रसिद्ध वेश्याएं थीं,

जिनमें से कई के जीवन-परिवर्तन का कारण उनके द्वारा बुद्ध-उपदेश को सुनना था।

नृत्य, गीत और नाटकों के अनेक वर्णन पालि साहित्य में भरे पड़े हैं। जातकट्ठकथा की निदानकथा के अनुसार चवालीस हजार नाटक करने वाली स्त्रियों को कुमार गौतम के मनोरंजन के लिए रखा गया था। "नृत्य-गीत आदि में दक्ष देवकन्याओं के समान अतीव सुन्दर स्त्रियों ने अनेक प्रकार के वाद्यों को लेकर कुमार को प्रसन्न करने के लिए नृत्य, गीत और वाद्य आरम्भ किया।" पञ्चविध तूर्य (संगीत) का वर्णन अवसर पालि साहित्य में हुआ है। वाद्य-संगीत (वादित) का उस समय काफी प्रचार था। हाथ से बजाने वाले संगीतज्ञ (पाणिस्सरा) भी उस समय थे और गाने वाले भाट (बेताल) भी। नाटक के तो अनेक भेद-प्रभेद लोक-जीवन में प्रचलित थे। नृत्य-गीत और वाद्य में कुशल (नच्चगीतवादितकुसला) नर्तकियों (नाटकी) का उल्लेख कई जातक-कथाओं में है। एक राजा के यहां १६००० नर्तकियां (सोलससु नाटकी-सहस्सेसु) थीं, ऐसा एक जातक-कथा में कहा गया है।

बुद्ध-काल की जनता अनेक प्रकार के मिथ्या विश्वासों में फंसी हुई थी। विशेषतः नक्षत्र विद्या और फलित ज्योतिष में उसका अधिक विश्वास था। कुमार गौतम के जन्म पर भी ज्योतिषी बुलाये गये थे। शकुन देखने वाले भी लोग उस समय विद्यमान थे। ब्रह्मजाल-सुत्त में ऐसे अनेक लौकिक विश्वासों का वर्णन है। आटानाटिय-सुत्त में भी तत्कालीन मन्त्र-विद्या और जादू-टोने के प्रयोगों को देखा जा सकता है। वृक्षों और यक्षों की पूजा प्रचलित थी। एक जातक-कथा में एक दुःखी पति-वियुक्ता नारी को गंगा भागीरथी की प्रार्थना करते और उसकी शरण जाते भी दिखाया गया है। अनेक प्रकार की मनौतियां भी की जाती थीं, जिनका ब्रह्मजाल-सुत्त में विशद वर्णन है। सुजाता ने बरगद के पेड़ से यह मनौती की थी कि यदि विवाह के पश्चात् उसके प्रथम गर्भ में पुत्र होगा तो वह एक लाख के मूल्य से उसकी पूजा करेगी। उसी के प्रसाद-स्वरूप गौतम बोधिसत्व को स्वादिष्ट खीर खाने को मिली थी। वैशाली के बहुपुत्रक चैत्य में स्त्रियां बहुत से पुत्रों को प्राप्त

करने के लिए मनौतियां करने जाया करती थीं।

बुद्ध-काल में अनेक उत्सव हमारे देश में मनाये जाते थे, जिन्हें सच्चे अर्थों में लोक-जीवन के उत्सव कहा जा सकता है। चतुर्दशी, पूर्णमासी और प्रत्येक पक्ष की अष्टमी को व्रत रखने का रिवाज भारत में प्राचीन काल के चला आ रहा है और बुद्ध-काल में भी प्रचलित था। अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और अन्य देवताओं की पूजा करना और नदी के घाटों पर जाकर जल में डुबकी लगाना, ये काम स्त्रियां उस समय भी उतनी ही रुचि और श्रद्धा के साथ करती थीं, जैसी आज। वाराणसी में कार्तिक मास में एक मेला लगता था, जिसका वर्णन पुप्फरत्त जातक में किया गया है। विमानवत्थु-अट्ठकथा में राजगृह के एक 'नक्खत्तकीलं (नक्षत्रक्रीड़ा) नामक उत्सव का वर्णन है जिसमें धनवान् पुरुष भाग लेते थे और जो एक सप्ताह तक चलता था। सिगाल जातक में राजगृह के एक सुरापान उत्सव का भी वर्णन है। गया में भी एक बड़ा उत्सव फाल्गुण के महीने में मनाया जाता था। उरुवेला में जटिल साधु प्रति वर्ष एक बड़ा यज्ञ करते थे जिसमें अङ्ग और मगध जनपदों का एक विशाल जन-समुदाय खाद्य-भोज्य आदि की सामग्री लेकर उपस्थित होता था। चम्पा में भी एक बड़ा मेला लगता था। हिमालयवासी तपस्वियों के खट्टे और नमकीन पदार्थों का स्वाद लेने के लिए वाराणसी और चम्पा जैसे नगरों में आने के उल्लेख हैं। धम्मपदट्ठकथा में श्रावस्ती के 'बालनक्षत्र' (बालनक्खत्त) नामक उत्सव का वर्णन है, जिसका स्वरूप बहुत कुछ होली का सा है। लोग गोबर से अपने शरीर को लपेट कर (गोमयेन च सरीरं मक्खेत्वा) सात दिन तक असभ्य बातें बकते हुए इधर-उधर घूमते थे (सत्ताहं असब्भं भणन्तो विचरन्ति)। इतनी अश्लील बातें बकते थे कि लोग उनका सुनना सहन नहीं कर सकते थे और उन्हें एक या आधा कार्षापण देकर किसी प्रकार टालते थे। यह सब रूप होली का ही है। 'सुमंगलविलासिनी' में आचार्य बुद्ध-घोष ने दक्षिणापथ के लोगों के 'धरण' नामक उत्सव का वर्णन किया है। महानारदकस्सप जातक में विदेह राष्ट्र में होने वाले कुमुदनी (कौमुदी) महोत्सव का भी वर्णन किया गया है।

मांगलिक अवसरों पर गौ के गोबर से लीपना, चौक पूरना आदि आज की तरह बुद्ध-काल में भी किया जाता था। कुमार गौतम के नामकरण के अवसर पर राज-भवन चारों प्रकार के गन्धों से लीपा गया था, धान की खीलों से मंगलाचार किया गया था. चारों प्रकार के पुष्प बखेरे गये थे, ब्राह्मणों को घी, मधु, मिश्री और निर्जल खीर से भरी सोने की थालियां परोसी गईं थीं और फिर लक्षण जानने वाले ब्राह्मणों से बालक के भविष्य के बारे में पूछा गया था।

पालि तिपिटक और उसकी अट्ठकथाओं से और विशेषत: उसके अंगभूत प्राचीन लोक-साहित्य के उस अक्षय भण्डार से, जो जातक के नाम से प्रसिद्ध है, प्राचीन भारतीय लोक-जीवन संबंधी एक विशाल और प्रामाणिक सामग्री एकत्र की जा सकती है।

: १४ :

पालि साहित्य में प्रकृति-वर्णन

पालि साहित्य विचार-प्रधान साहित्य है। भारतीय साहित्य में वस्तुत: मनन के विषय ही दो हैं —उपनिषद् और बुद्ध-वचन। पालि साहित्य में बुद्ध-वचनों के अतिरिक्त भी कुछ है, पर जो है, वह भी प्राय: उन्हीं पर आश्रित है। विचार की प्रधानता के साथ-साथ पालि साहित्य में भावना भी है। यदि मानवीय भावनाएं उसमें न होतीं तो उस विशाल जन-समाज को वह कैसे प्रभावित कर सकता, जैसा कि उसने किया है। जाति-धर्म-निर्विशेष मानवीय भावनाओं की बहुलता पालि साहित्य का एक गुण है। पर भावुकता से भी अधिक प्रमुख गुण है उसका विवेकवाद। वह हृदय को स्पर्श करने की अद्भुत क्षमता रखता है, पर साथ ही मनोरागों की अतिशयता को वहां हेयता की दृष्टि से देखा गया है। संक्षेप में विवेक और भावना का एक अद्भुत सामंजस्य हमें पालि साहित्य में मिलता है।

सबसे बड़ी बात यह है कि प्रकृति को ज्ञान-साधना के सहायक

के रूप में पालि साहित्य में देखा गया है। बुद्ध-जीवन में भी हमें यही बात देखने को मिलती है। यह कितने ग्राश्चर्य की बात है, ग्रौर यह ग्राकस्मिक भी नहीं है, कि भगवान बुद्ध का जन्म भी एक पेड़ के नीचे हुग्रा, ज्ञान भी उन्होंने एक पेड़ के नीचे ही पाया ग्रौर शरीर भी एक पेड़ के नीचे छोड़ा। लुम्बिनी के शाल-वन में भगवान् का जन्म, गया के पीपल के पेड़ के नीचे उनकी बुद्धत्व-प्राप्ति ग्रौर कुशीनगर के दो शाल-वृक्षों के नीचे उनका महापरिनिर्वाण—तथागत के जीवन की ये तीनों बड़ी घटनाएं प्रकृति की खुली गोद में, वृक्षों के नीचे, ही हुई। प्रासादों में रहकर बुद्धों का निर्माण नहीं हो सकता। उनके लिए खुली वायु चाहिए। ग्रपने महाभिनिष्क्रमण के बाद ग्रनेक स्थानों में घूमते हुए भगवान् उरुवेला में पहुंचे। वहां नेरंजरा (नीलाजन) नदी के तट की भूमि को उन्होंने साधना के योय समझा। इस स्थान के बारे में उन्होंने स्वय कहा है, "यह भूमि-भाग रमणीय है। यह वन-खण्ड प्रसन्नताकारी है। श्वेत, सुन्दर घाट वाली रमणीय नदी बह रही है। चारों ग्रोर घूमने के लिए गांव हैं। परमार्थ में उद्योगी कुल-पुत्र के लिए ध्यान-रत होने के लिए यह स्थान उपयोगी है। यह ध्यान-योग्य स्थान है।" भगवान् बैठ गये। छह वर्ष यहीं तपस्या की, यहीं बोधि-वृक्ष के नीचे एक दिन रात्रि के ग्रन्तिम याम में भगवान् ने ज्ञान प्राप्त किया। बाद में कई सप्ताह तक भिन्न-भिन्न पेड़ों के नीचे ध्यान-सुख ग्रनुभव करते हुए भगवान् बैठे रहे। वृक्षों के नीचे ध्यान करने का उपदेश सदा भगवान् ग्रपने शिष्यों को भी देते थे। "यह सामने वृक्षों की छाया है........ ध्यान करो, प्रमाद मत करो" ऐसा हम उन्हें ग्रनेक बार कहते हुए सुनते हैं। वन की शोभा ध्यानी भिक्षु से ही है, ऐसा भाव भगवान् ने मज्झिम-निकाय के महागोसिंग-सुत्त में प्रकट किया है। जिन-जिन वनों, वन-खण्डों, पर्वत-प्रदेशों, नदियों ग्रौर पुष्करिणियों ग्रादि के किनारे भगवान् ने समय-समय पर निवास किया, उनकी सूची बनाई जाय तो विदित होगा कि भगवान् का प्रायः सारा जीवन प्रकृति के बीच ही व्यतीत हुग्रा। मनुष्य-समाज में वे उसके कल्याण के लिए ग्राये, पर वहां भी उनका निवास किसी

एकान्त, निःशब्द और प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण स्थान में ही होता था। किसी ग्राम या नगर में विहरते हुए भगवान् भोजनोपरान्त पास के जंगल में ध्यान के लिए चले जाया करते थे, ऐसा अंगुत्तर-निकाय के तिक-निपात के एक सुत्त में कहा गया है। यहां हम उन कुछ आम्र-वनों, शिशपा-वनों, मृगोपवनों और अन्य प्राकृतिक स्थानों के दिग्दर्शन करें जहां भगवान् ने कुछ न कुछ समय तक निवास किया और जहां की प्राकृतिक श्री के वर्णन पालि साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

राजगृह और वैशाली के अनेक सुरम्य प्राकृतिक स्थानों का वर्णन स्वयं भगवान् बुद्ध ने किया है और उन्हें 'रमणीय' बताते हुए अपने वहां निवास का भी उल्लेख किया है। वह गृध्रकूट पर्वत, वह यष्टि-वन-उद्यान, वह ऋषिगिरि, वह वेभार, वह वेपुल्ल पब्बत, राजगृह के उन अनेक स्थानों में से कुछ भर हैं, जहां तथागत ने निवास किया था! वैशाली की महावन-कूटागारशाला को भला कौन भुला सकता है? अन्य अनेक स्थानों में भी हम भगवान् को विहार करते देखते हैं। कपिलवस्तु और वैशाली के महावन उनके प्रिय ध्यान-स्थान थे। इसी प्रकार काशि-राष्ट्र के अम्बाटक वन और चेतिय जनपद के प्राचीन वंश मृगदाव, पारि-लेय्यक वन और चालिय पर्वत पर हम उन्हें विहार करते देखते हैं। भद्दिय के जातियावन में भी, जो जाति-पुरुषों से सुरभित वन था, भगवान् विहारार्थ गये थे। इसी प्रकार साकेत के अंजन-वन और कण्टकी वन तथा वैशाली के अन्धवन को भी बुद्ध की पद-रज से पवित्र होने का अव-सर मिला था। भग्ग राज्य का भेसकलावन भी इसी प्रकार इतिहास में पवित्र हो गया है। आलवी, कौशाम्बी और सेतव्या के सिंसपा-वन तथा राजगृह, किम्बिला और कजंगल के वेणुवन भी आज हमारे लिए इसीलिए स्मरणीय हुए है क्योंकि तथागत ने वहाँ विहार किया था। एक बार तो हम भगवान् को एक ऐसे अवसर पर जब वर्षा होने वाली थी, मही (गण्डक) नदी के तट पर (अनुतीरे महिया) एक खुली कुटिया (विवटा कुटि) में निवास करते देखते हैं। सरयू (सरभू) तथा अन्य अनेक नदियों के तट पर भी उन्होंने विहार किया था। एक अन्य अवसर पर वे सीतवन में, जो राजगृह के समीप एक श्मशान-वन

था, रात के अन्तिम पहर में घूम रहे थे। इसी प्रकार काली अन्धकार-ग्रस्त रात्रि में, जब रिमझिम वर्षा भी हो रही थी, हम एक बार भगवान् को खुली जगह में ध्यान करते देखते हैं। कप्पासिय वन-खण्ड में भी भगवान् ने ध्यान किया था। अन्य अनेक वनों में, जहां तथागत ने ध्यान किया, मिथिला का मखादेव आम्रवन, अनूपिया का आम्र-वन, वज्जि जनपद के अवरपुर वनखण्ड और गोसिंग सालवन, उक्कट्ठा का सुभग वन, नलकपान के पलाश-वन और केतक-वन, कौशाम्बी के देव-वन और प्लक्षगुहा, चातुमा का आमलकी-वन, कुण्डी या कुण्डिय का कुण्डधान-वन और ओपसाद का देव-वन नामक शाल-वन, आदि न जाने कितने वन गिनाये जा सकते हैं। एक बार हम भगवान् बुद्ध को हिमालय की एक अरण्य-कुटिका में भी निवास करते देखते हैं। चम्पा की गग्गरा-पोक्खरणी की स्मृति भी कितनी मधुर है और कितनी सघन और सुन्दर रही होगी आपण की वह नील वृक्ष-पंक्ति (नील वन-राजि), जहां तथागत ने एक बार निवास किया था।

भगवान् बुद्ध के प्रकृति-प्रेम को उनके शिष्य भी समझते थे। काल उदायी (जो बाद में इसी नाम का स्थविर वना) भगवान् बुद्ध का बचपन का एक साथी था। वह शुद्धोदन के एक मन्त्री का पुत्र था। बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद जब भगवान् राजगृह में विहर रहे थे और जब शुद्धोदन कई व्यक्तियों को अपने पुत्र को घर लाने के प्रयत्न में भेजकर असफल हो चुका था, तो उसने अन्त में काल उदायी को इस काम के लिए उपयुक्त समझा और भेजा। काल उदायी मंत्री का पुत्र था, चतुर था, और बचपन का मित्र होने के कारण भगवान् की प्रकृति को भी समझता था। कुछ समय तक तो वह चुपचाप वना रहा, परन्तु जैसे ही फागुन का महीना आया, वह भगवान् के सामने आकर वसन्त ऋतु की प्रशंसा और उसमें यात्रा के आनन्द को वर्णन करता हुआ इस प्रकार बोला—

"भन्ते ! वृक्ष अंगारों की भांति (लाल-लाल फूलों से) सुशोभित हो रहे हैं, मानो फल की खोज में उन्होंने पत्तों को छोड़ दिया है, वे दीप-शिखा की भांति सुशोभित हैं;

भगीरथों (शाक्यों) पर अनुग्रह करने का यह समय है।"[1]
"मनोरम द्रुम फूल रहे हैं, चारों दिशाएं सुरभित हैं,
वृक्षों ने फलों की खोज में पत्तों को त्याग दिया है,
वीर! यहां से प्रस्थान करने का यह समय है।"[2]
"भन्ते! न तो अब अधिक शीत है, न अधिक उष्ण है,
ऋतु सुखदायी है और लम्बी यात्रा के अनुकूल है।
अब पश्चिमाभिमुख हो रोहिणी नदी को पार करते हुए शाक्य और कोलिय आपको देखें।"[3]

इस ऋतु और उसमें लम्बी यात्रा की प्रशंसा की अभिव्यंजना भगवान् समझ गये और उन्होंने फाल्गुण पूर्णिमा को अपने परिजनों के हितार्थ यात्रा आरम्भ कर दी।

बुद्ध के समान उनके शिष्यों की जीवन-साधना में हम भी उनके प्रकृति-प्रेम और उसके सम्पर्क में रहने के साक्ष्य पाते हैं। बौद्ध भिक्षुओं का जीवन प्रकृति से गहरे रूप से सम्बद्ध था। गिरि-गुहा, नदी-तट, वन-प्रस्थ, श्मशान, वृक्ष-मूल, पुआल-पुंज अथवा किसी छाई हुई या बिना छाई हुई ही कुटिया में ध्यान करते हुए भिक्षुओं को वर्षा, शीत आदि ऋतु-परिवर्तन का और पृथ्वी और आकाश के अनेक रंगों और रूपों के परिवर्तन का साक्षात् अनुभव होता था। उनका सारा मानसिक जीवन ध्यान-मय होता था। प्रकृति के अनेक रूपों की प्रतिक्रिया उनके चित्त पर कैसी होती है, इसके अद्भुत रुप से सच्चे चित्र अनेक भिक्षु हमारे लिए छोड़ गये हैं। 'थेरगाथा' में ये संगृहीत हैं और पालि साहित्य में प्रकृति-वर्णन के सर्वोत्तम उदाहरण माने जा सकते हैं।

---

१. अङ्गारिनो दानि दुमा भदन्ते फलेसिनो छदनं विप्पहाय।
ते अच्चिमन्तो व पभासयन्ति समयो महावीर भगीरसानं॥ थेरगाथा, गाथा ५२७।

२. दुमानि फुल्लानि मनोरमानि समन्ततो सब्बदिसा पवन्ति।
पत्तं पहाय फलमासमाना कालो इतो पक्कमनाय वीर॥ थेरगाथा, गाथा ५२८।

३. नेवाति सीतं न पनाति उण्हं सुखा उतु अद्धनिया भदन्ते।
पस्सन्तु तं साकिया कोलिया च पच्छामुखं रोहिणियं तरन्तं॥ थेरगाथा, गाथा ५२९।

प्रकृति-प्रेम बौद्ध साधकों के जीवन में गहरे रूप से संनिविष्ट था और शास्ता के समान वे भी उसे साधना का सहायक मानते थे। एक भिक्षु गङ्गा के तीर पर वास करता था और उसने अपना परिचय ही 'गङ्गा-तीरिय भिक्खु' के रूप में छोड़ा है। कितनी आध्यात्मिक मस्ती के साथ उसने कहा है, **'तिण्णं मे तालपत्तानं गङ्गातीरे कुटी कता"**[1] अर्थात् **"गङ्गा के किनारे पर मैंने तीन ताड़ पत्तों की एक कुटिया बनाई है।"** इसी प्रकार साकेत के समीप अंजन-वन में रमने वाले और इसीलिए केवल 'अंजन-वनिय' के रूप में अपना परिचय छोड़ने वाले एक अन्य भिक्षु ने उतनी ही मस्ती और अल्पेच्छ भावना के साथ कहा है **"अंजन वन में प्रवेश कर आसन्दी (कुर्सी) को ही कुटी बनाकर मैं वास करता हूं।"**[2] कितने आनन्द का साक्ष्य है अकिंचनता के इस जीवन में! और भी इस निरामिष सुख के साक्ष्य देखिये।

मूसलाधार वर्षा हो रही है। ध्यानस्थ भिक्षु अपनी कुटिया में बैठा है। हां, उसकी कुटिया छाई हुई है। भिक्षु उद्गार करता है—

बरसो हे देव ! यथासुख बरसो !
मेरी कुटिया छाई हुई है !
वह शान्त और सुखकारी है ;
मेरा चित्त समाधि में लीन है ,
वह आसक्तिओं से मुक्त हो चुका है—
निर्वाण के लिए उद्योग चल रहा है—
बरसो हे देव ! यथासुख बरसो ![3]

एक दूसरे भिक्षु ने इसी अनुभव को इनसे भी अधिक रमणीय शब्दों में व्यक्त किया है--

सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !
मेरी कुटिया छाई हुई है !

---

१. गाथा १२७।
२. गाथा ५५।
३. गाथा १।

वह शान्त और सुखकारी है।
उसमें शान्त-चित्त, ध्यानस्थ में बैठा हूं।
बरसो हे देव ! जितनी तुम्हारी इच्छा हो बरसो ![1]

"**वस्सति देवो यथा सुगीतं !**" ("सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !") कितनी सुन्दर उपमा है। झड़ी लगाकर बरसते हुए बादल के समान सुन्दर गीत की वर्षा के सौन्दर्य को भी देखने की क्षमता वीतराग भिक्षु में है। पर ध्यान का सुख तो इससे भी बड़ा है—

पञ्चङ्गिकेन तुरियेन न रति होति तादिसी।
यथा एकग्गचित्तस्स सम्मा धम्मं विपस्सतो।।[2]

पञ्चविध तूर्य ध्वनि (संगीत) से भी वैसा आनन्द प्राप्त नहीं होता, जैसा एकाग्र-चित्त पुरुष का धर्म के सम्यक् दर्शन करने से उत्पन्न होता है। अतः ध्यान का सुख ही भिक्षु के लिए सबसे बड़ा सुख है। प्राकृतिक सौन्दर्य, जो साधारण लोगों के लिए आंख के उपभोग की वस्तु है, भिक्षु के लिए ध्यान का उद्दीपन बन जाता है। विश्व के अधिकांश काव्य-साहित्य में वर्षा-वर्णन या सामान्यतः ऋतु-वर्णन काम-रति के उद्दीपन के रूप में ही किया गया है। भारतीय साहित्य में महर्षि वाल्मीकि ने अवश्य प्रकृति को आलम्बन मानकर स्वतन्त्र रूप से उसका उदात्त वर्णन किया है। गोस्वामी तुलसीदास जी के वर्षा और शरद् ऋतुओं के वर्णन, जो श्रीमद्भागवत पर आधारित हैं, वैराग्य के वर्द्धक अवश्य हैं, परन्तु वहाँ नीति का उपदेश इतना स्फुट हो गया है कि उसे वास्तविक अर्थों में प्रकृति-चित्रण ही नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजी कवि जेम्स थॉम्सन ने 'दि सीज़न्स' में ऋतुओं का सुन्दर वर्णन किया है, जो उदात्त है और शुभ्र है। इसी प्रकार प्रकृति के पुजारी वर्डस्वर्थ ने भी प्रकृति की आश्वासनकारी शक्ति को दिखाने के साथ-साथ उसके अनेक उदात्त, सुन्दर चित्र भी अङ्कित किये हैं। ये सब बातें अन्य साहित्यों में भी मिल जायेंगी। पर प्राकृतिक सौन्दर्य को देखने के साथ ही मन की वह प्रसन्नता-

---

१. गाथा ३२५।
२. गाथा ३९८; मिलाइये गाथा १०७१ भी।

मयी स्थिति हो जाना जिसमें वह पूर्ण निर्विकार होकर सत्य को देख लेना चाहता है, पवित्रता और सुन्दरता के स्रोत को अपने अन्दर ही उद्घाटित करने के लिए व्यग्र हो उठता है, मानव-मन की यह उच्च स्थिति तो केवल 'थेरगाथा' में ही मिलेगी। विश्व के प्रकृति-कवियों में मानसिक पक्ष की दृष्टि से (बाह्य सौंदर्य-वर्णन की दृष्टि से नहीं) सम्भवतः वर्डस्वर्थ से आगे कोई नहीं गया है। अंग्रेजी के प्रकृति उपासक कवियों का तो वह सिरमौर ही है। हम उसे आसानी से उनका प्रतिनिधि मान सकते हैं। मानव-मन के प्रकृति के साथ तादात्म्य के वर्णन में वर्ड्स्वर्थ सबसे अधिक ऊंचा अपनी उन प्रसिद्ध पंक्तियों में गया है जो उसने टिंटर्न एबे नामक गिर्जे के समीप लिखी थीं। इन पंक्तियों में, जिनके उद्धरण की यहां कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, कवि ने मुख्यतः यह भाव व्यक्त किया है कि प्रकृति के साथ सम्पृक्त हुआ मन एकता की आनन्दानुभूति करता हुआ उस अवस्था तक पहुंच जाता है, जहां उसे 'मानवता का शान्त, करुण संगीत (the still, sad music of humanity) सुनाई पड़ने लगता है, जो न कर्कश है और न घर्षात्मक (nor harsh, nor grating), बल्कि जिसमें (मनको) पवित्र करने और संयमित करने की बहुल शक्ति है (but with ample power to chasten and subdue)। वर्ड्स्वर्थ के प्रकृति-दर्शन के साथ 'थेरगाथा' के प्रकृति-दर्शन की एकता की आतुरता न दिखाते हुए (दोनों में अनेक मौलिक विभिन्नताएं हैं) हमें केवल यहां यही कहना है कि 'पुरिसदम्मसारथि' (पुरुषों को संयमी बनाने के लिए सारथी-स्वरूप, भगवान् बुद्ध) के शिष्यों ने प्राकृतिक दृश्यों के बीच ध्यानस्थ होकर मानवता का जितना अधिक 'शान्त, करुण संगीत' सुना है, और सुनकर 'संयमकारी' और 'पवित्रताकारी' जिस विशाल शक्ति का उन्होंने अपने अन्तस् में साक्षात्कार किया है, वह साधना के इतिहास में अतुलनीय है। विशेष प्रभावशाली प्राकृतिक-दृश्यों की तो बात ही क्या, एक भिक्षुणी ने तो एक अत्यन्त साधारण परिस्थिति के दर्शन से ही अपने चित्त को पवित्र और संयमित कर लिया है। वह कहती है--दिन में ध्यान करने के लिए मैं बाहर निकली थी। जाकर

गृध्रकूट पर्वत के शिखर पर बैठ गई । वहां देखती हूं कि एक हाथी जल में अवगाहन करने के बाद नदी के किनारे पर बैठा है । एक अंकुशधारी मनुष्य ने उसे आदेश दिया—"पैर पसार ।" हाथी ने पैर पसार दिया । मनुष्य उस पर चढ़ गया । अदान्त (हाथी) को दमित होते और मनुष्य की अधीनता स्वीकार करते देख, उस गम्भीर अरण्य में प्रवेश कर मैंने भी अपने चित्त को दमित और वशीभूत कर लिया। जब जीवन की साधारण घटनाओं में इतनी महती शक्ति (Ample power) मानव-मन को विशुद्ध और संयमित करने के लिए (to chasten and subdue) भर पड़ी है, तो प्रकृति के शीत, वर्षा, वन, नदी, निर्झर आदि भव्य दृश्य इन साधक-साधिकाओं को ध्यान की किन उच्च अवस्थाओं में ले पहुंचते होंगे, यह सोचना कठिन नहीं है ।

वर्षा काल है । सुन्दर नीली ग्रीवा वाले, कलंगी धारी मोर अपने सुन्दर मुखों से बोल रहे हैं । कितनी मधुर है उनकी कूजन ! विस्तृत पृथ्वी चारों ओर हरियाली से भरी हुई है । सारी सृष्टि जल से व्याप्त है । आकाश में जल-पूरित कृष्ण मेघ छाये हुए हैं । ध्यान के लिए यह उपयुक्त अवसर है । भिक्षु को प्रसन्नता है कि उसका ध्यान अत्यन्त उत्तम, अनुकूल रूप से चल रहा है । बुद्ध-शासन के अभ्यास में वह सुन्दर रूप से अप्रमादी है । यदि प्रकृति में उल्लास और उत्साह है, तो भिक्षु का मन भी सुन्दर है । उसे भी उत्साह होता है, अत्यन्त पवित्र, कुशल, दुर्दर्श, उत्तम अच्युत पद (निर्वाण) का साक्षात्कार करने के लिए । वर्षाकालीन सौन्दर्य के बीच एक ध्यानस्थ भिक्षु (चूलक) के इस पराक्रम को देखिये—

नन्दन्ति मोरा सुसिखा सुपेखुणा, सुनीलगीवा सुमुखा सुगज्जिनो ।
सुसद्दला चापि महा मही अयं, सुब्यापितम्बु, सुवलाहकं नभं ।।
सुकल्लरूपो सुमनस्स झायितं, सुनिक्खमो साधु सुबुद्धसासने ।
सुसुक्कसुक्कं निपुणं सुदुद्दसं, फुसाहितं उत्तममच्चुतं पदं[1] ।।

---

१. गाथाएं २११-२१२ ।

छत के नीचे बैठे हुए, मित्र-परिजनादि से घिरे हुए, सांसारिक मनुष्य के समान वर्षा का सौंदर्य केवल दूर से अवलोकन करने की वस्तु भिक्षु के लिए नहीं थी। उसके लिए वर्षा अपने सम्पूर्ण आकर्षण और भय के साथ ही आती थी। उसके रौद्र रूप का भी वह इसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव करता था, जैसे उसके मधुर गीत के समान स्रवित होने का। अकेला ध्यानस्थ भिक्षु भयंकर गुफा में बैठा है। बादल बरस रहा है और आकाश में गड़गड़ा रहा है। भयंकर मूसलाधार वर्षा और आकाश में निरन्तर बिजली की गड़गड़ाहट ! पशु, पक्षी कांप रहे हैं। पर भिक्षु को भय कहाँ ? निर्भयता उसका स्वभाव है, उसकी 'धम्मता' है ! अत: उसे न भय है, न स्तम्भ है, और न रोमांच ! स्थविर सम्बुल कच्चान के अनुभव को उनके शब्दों में ही सुनिये—

देवो च वस्सति देवो च गलगलायति
एकको चाहं भेरवे बिले विहरामि।
तस्स मय्हं एककस्स भेरवे बिले विहरतो
नत्थि भयं वा छम्भितं वा लोमहंसो वा ॥
धम्मता ममेसा यस्स मे एककस्स भेरवे बिले
विहरतो नत्थि भयं वा छम्भितत्तं वा लोमहंसो वा ॥[1]

भिक्षुओं की वृत्ति वर्षाकालीन प्राकृतिक सौन्दर्य और विशेषत: ध्यान के लिए उसकी उपयुक्तता पर बहुत रमी है। सुन्दर ग्रीवा वाले, नीले मोरों का बोलना भिक्षुओं के लिए ध्यान का निमन्त्रण है। शीत वायु में कलित विहार करते हुए मोर भिक्षु को ध्यान के लिए उद्बोधन करते हैं —

नीला सुगीवा सिखिनो मोरा कारंवियं अभिनदन्ति।
ते सीतवातकलिता सुत्तं झायं निबोधेन्ति ॥[2]

"नीले रंग के, सुन्दर ग्रीवा और शिखा वाले मोर करवीय वन में गाते हैं। शीतल वायु में प्रफुल्लित हो कर मधुर गीत गाने वाले ये मोर

---

१. गाथाएं १८९-१९०।
२. गाथा २२

सोये हुए भिक्षु को ध्यान के लिए जगाते हैं" ।

इसी प्रकार सप्पक स्थविर का भी वर्षाकालीन सौन्दर्य से प्रेरणा प्राप्त कर अजकर्णी नदी (रापती की एक सहायक नदी) के समीप ध्यान करने का संकल्प कितना उदात्त है :

जब स्वच्छ पाण्डुर वर्ण के पंख वाले बगुले काले मेघ से भयभीत होकर अपनी खोंहों की खोज करते हुए उड़ते है, उस समय यह अजकर्णी नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है !

जब स्वच्छ, पाण्डुर वर्ण के पंख वाले बगुले काले मेघ से भयभीत होकर अपनी खोहों की खोज करते हुए उड़ते हैं, और उनकी गुफाएँ वर्षा के अन्धकार से ढंकी हुई हैं ।

उस समय यह अजकर्णी नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है !

इस नदी के दोनों ओर जामुन के पेड़ हैं, यहां मेरा मन कैसे न लगेगा ?

बड़ी पगडंडी के पीछे, नदी के किनारे पर, अन्य निर्झरिणियां सुशोभित हैं ।

साँपों के भय से विमुक्त मेंढक मृदुल नाद कर रहे हैं ?

आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है !

यह अजकर्णी नदी कितनी सुरम्य, शिव और क्षेमकारी है ![1]

वर्षाकालीन सौन्दर्य का कितना सुन्दर, संश्लिष्ट वर्णन है । इतना सूक्ष्म निरीक्षण भिक्षु को प्रकृति के साथ गहरे सम्पर्क से ही प्राप्त हुआ

---

१. यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता ।
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं ॥
यदा बलाका सुविसुद्धपण्डरा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता ।
परियेसतिलेन मलेन दस्सिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं ॥
कन्नु तत्थ न रमेन्ति जम्बुयो उभतो तहिं, ।
सोभेन्ति आपगा कूलं महालेनस्स पच्छतो ॥
तामतमदसं घसुप्पहीना भेका मन्दवती पनादयन्ति ।
नाज्ज गिरिनदीहि विप्पवाससमयो खेमा अजकरणी सिवा सुरम्माति ॥
गाथाएं ३०७-३१० ।

है। उसके ऊपर उसकी ध्यानमयता है। काले बादलों में होकर स्वच्छ, पाण्डुर वर्ण वाले बगुलों का उड़ना वर्षा ऋतु का एक सुन्दर और चिर-परिचित चित्र है। वर्षाकाल में चित्रकूट की शोभा का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने आदि वराह की उत्प्रेक्षा के साथ इसे देखा था—

सिखर परस घन घटहि मिलति
बग पांति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनौ
उठ्यौ है दसन धरि धरनी॥

महाकवि सूरदास ने भी इसी प्रकार वर्षा-काल में शुकों की पंक्तियों को उड़ते हुए देखा है और उनके सौन्दर्य को उत्प्रेक्षा के रूप में व्यवहृत किया है——

स्याम देह दुकूल दुति छवि लसति तुलसी माल।
तड़ित घन संयोग मानो सेनिका सुक जाल॥

जैसा स्पष्ट है, भिक्षु के वर्णन का सौन्दर्य अपना है। उसका प्रकृति-प्रेम न तो वस्तुवर्णनात्मक है और न केवल एक संश्लिष्ट चित्र के रूप में। उसका ध्यान अविभक्त रूप से उसके साथ संलग्न है। यह उसकी अपनी विशेषता है। और जब वह कहता है **"आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है"** (**"नाज्ज गिरिनदीहि विप्पवाससमयो"**) तब तो निश्चय ही छठी शताब्दी ईसवी पूर्व के इस उद्गार में वह अपने प्रकृति-प्रेम की उस पूरी निष्ठा को ही रख देता है जो आज तक के काव्य-साहित्य में कहीं भी प्रस्फुटित हो सकी है।

प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच एकान्त ध्यान करते हुए जो आनन्द प्राप्त होता है उससे चरम आनन्दानुभूति और कुछ नहीं है, ऐसा साक्ष्य देते हुए एक स्थविर साधक (भूत) ने अपने अनुभव को स्पन्दित करते हुए कहा है—

जब आकाश में मेघों की दुन्दुभी बजती है, और पक्षियों के मार्गों में चारों ओर धाराकुल बादल चक्कर लगाते हैं,

उस समय भिक्षु पहाड़ पर जाकर ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है।

जब नदी-तट के वृक्ष नाना रंग-बिरंगे पुष्पों से भरे हुए हैं, उस

समय वहां बैठकर सुन्दर मन वाला भिक्षु ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है।

जब एकान्त वन में, अर्द्धरात्रि में, बादल गड़गड़ा रहे हैं और हाथी चिंघाड़ रहे हैं, उस समय पर्वत पर बैठा हुआ भिक्षु ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है।[1]

इसी परमानन्द को प्राप्त करने के लिए एक भिक्षु (अशोक के अनुज तिष्य, जो अपनी एकान्तवासी वृत्ति के कारण 'एक विहारिय' भी कहलाते थे) गिरिव्रज जाने को उद्यत है—

अहो! मैं कब बुद्ध द्वारा प्रशंसित वन को जाऊंगा! योगियों के लिये प्रसन्नताकारी, मत्त कुंजरों से सेवित, रमणीय, उस वन में मैं कब अकेला प्रवेश करूंगा!

उस सुपुष्पित शीत वन में, गिरि और कन्दराओं में, अपने गात्र को सिंचित कर मैं कब अकेला चंक्रमण करूंगा!

शीतल, सुरभित गन्ध वाली वायु जब चल रही होगी, उस समय पर्वत-शिखर पर बैठकर कब मैं अपनी अविद्या को नष्ट करूंगा!

अकेला, विना साथी के, उस रमणीय महावन में, एकान्त, शीतल, पुष्पों से आच्छादित, पर्वत पर विमुक्ति-सुख से सुखी, कब मैं गिरिव्रज में विचरण करूंगा![2]

---

१. यदा नभे गज्जति मेघदुन्दुभि धाराकुला विहंगपथे समन्ततो।
भिक्खु च पब्भारगतो व झायति
ततो रतिं परमतरं न विन्दति॥
यदा नदीनं कुसुमाकुलानं, विचित्तवानेय्यवटंसकानं॥
तीरे निसिन्नो सुमनो व झायति ततो रतिं परमतरं न विन्दति॥
यदा निसीथे रहितम्हि कानने, देवे गलन्तम्हि नदन्ति दाठिनो॥
भिक्खु च पब्भारगतो व झायति,
ततो रतिं परमतरं न विन्दति॥ थेर-गाथा, गाथाएं ५२२-५२४।

२. हन्द एको गमिस्सामि अरञ्ञं बुद्धवण्णितं। गाथा ५३८।
योगिपीतिकरं रम्मं मत्तकुञ्जरसेवितं। गाथा ५३९।
सुपुप्फिते सीतवने सीतले गिरिकन्दरे।
गत्तानि परिसिञ्चित्वा चङ्कमिस्सामि एकको। गाथा ५४०।

एक दूसरे भिक्षु (महाकाश्यप) को भी पर्वत कितने प्रिय हैं :

करेरि पुष्पों की पंक्तियों से परिपूर्ण, मनोरम भूमि-भाग वाले, कुंजरों से अवरुद्ध–ये पर्वत मुझे कितने प्रिय हैं !

जहां नील बादलों के समान सुन्दर, शीतल, स्वच्छ जलाशय हैं,
जो इन्द्रगोपों से आच्छादित हैं—ऐसे पर्वत मुझे कितने प्रिय हैं !
नील बादलों की चोटियों के समान,
उत्तम कूटागारों के समान,
हाथियों की चिंघाड़ से रमणीय,
ये वन मुझे कितने प्रिय हैं !
जिनकी रमणीय तलहटियों में अभी वर्षा होकर चुकी है,
ऋषियों से सेवित,
मोरों के शब्दों से सदा निनादित,
ये पर्वत मुझे कितने प्रिय हैं !
उम्मा पुष्पों के समान रंग वाले
बादलों से आच्छादित आकाश के समान,
नाना पक्षियों से आकीर्ण,
ये पर्वत मुझे कितने प्रिय हैं !
जहां स्वच्छ जल है, विस्तृत शिलाएं हैं,
जो लंगूरों और मृगों से भरे हैं,
जहां शैवाल से आच्छादित जलाशय हैं,
ये पर्वत मुझे कितने प्रिय हैं ![1]

मालुते अपवायन्ते सीते सुरभिगन्धके ।
अविज्जं दालयिस्सामि निसिन्नो नगमुद्धनि । गाथा ५४४ ।
एकाकियो अदुतियो रमणीये महावने । ५४१ ।
विने कुसुमसञ्छन्ने पब्भारे नून सीतले ।
विमुत्तिसुखेन सुखितो रमिस्सामि गिरिब्बजे ॥ ५४५ ।

१. करेरिमालावितता भूमिभागा मनोरमा ।
कुंजराभिरुद्धा ते सेला रमयन्ति मं ॥ गाथा १०६२ ।

प्राकृतिक वातावरण जिस प्रकार ध्यान के लिए उद्दीपन है, उसी प्रकार वह वासना का भी हो सकता है, यह बात भिक्षुओं को विदित थी। परन्तु उनके जीवन का लक्ष्य शमात्मक धर्म का अभ्यास था, अतः इन चंचलताओं में वे नहीं पड़ सकते थे। परन्तु इस बात की अभिज्ञा उन्हें थी। वसन्त की शोभा को उद्दीपन विभाव के रूप में रखता हुआ एक कामी, लम्पट पुरुष 'थेरीगाथा' में भिक्षुणी शुभा से कहता है—

पुष्परेणियों से मस्त हुए वृक्ष चारों ओर मधुर गन्ध विकीर्ण कर रहे हैं,

प्रथम वसन्त का सुखकारी समय है, चल इस पुष्पित वन में हम रमण करें।

पुष्पों को सिर पर धारण किये हुए ये वृक्ष वायु से प्रकम्पित होकर कैसी सुन्दर मर्मर ध्वनि कर रहे हैं!''[2]

परन्तु यह वसन्त का वर्णन 'थेरीगाथा' में केवल पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए है। इसमें अभी बौद्ध कुछ नहीं है। कोई भी कल्पनाशील कवि ऐसा वर्णन कर सकता है और अनेक ने किये भी हैं। पर इस वसन्त की शोभा की पृष्ठभूमि में ही आगे चलकर शुभा भिक्षुणी अपनी आंख को दिखाती हुई, जिसकी सुन्दरता को देखकर ही वह पुरुष कामासक्त हो गया था, कहती है, "आंखें क्या हैं? दो गड्ढों में स्थित, अश्रुओं से सिंचित, जलबुद्बुद मात्र।" यह बौद्ध है। वसन्त का

नीलब्भवण्णा रुचिरा वारिसीता सुचिन्धरा।
इन्दगोपकसञ्छन्ना ते सेला रमयन्ति मं॥ १०६३।
नीलब्भकूटसदिसा कूटागारवरूपमा।
वारणाभिरुदा रम्मा ते सेला रमयन्ति मं॥ १०६४।
अभिवुट्ठा रम्मतला नगा इसिभि सेविता।
अब्भुन्नदिता सिखीहि ते सेला रमयन्ति मं॥ १०६५।
उम्मापुप्फवसमाना गगना वब्भछादिता।
नानादिजगणाकिन्ना ते सेला रमयन्ति मं॥ १०६६।
अच्छोदिका पुथुसिला गोनलङ्गुमिगायुता।
अम्बुसेवालसञ्छन्ना ते सेला रमयन्ति मं॥ १०७०।

२. थेरीगाथा, गाथाएं ३७१–३७२।

वर्णन इस प्रभाव की तीव्रता के लिए ही किया गया है। आंख के आलम्बन से उत्पन्न होनेवाला जितना भी राग है, उस सब को शमित करने की शक्ति भिक्षुणी शुभा के उपर्युक्त कथन में है।

प्राकृतिक दृश्य का उपयोग सौन्दर्य के उपमान के रूप में भी पालि साहित्य में किया गया है। चापा अपने प्रव्रजित पति को लौटाने के लिए अपनी सुन्दरता का वर्णन करते हुए मार्मिकतापूर्ण शब्दों में कहती है

'हे कृष्ण[1]! गिरि-शिखर पर पुष्पित तक्कारि वृक्ष के समान, या फूली दाड़िम-यष्टि के समान, या द्वीप में उत्पन्न पाटलि पुष्प (गुलाब) के समान, सौन्दर्य और यौवन में मैं परिपूर्ण हूं। तुम्हारे लिए मैं शरीर में हरिचन्दन का लेप करूंगी, सुन्दर काशी के बने रेशमी वस्त्र धारण करूंगी। स्वामी ! इतनी रूपवती को छोड़कर तुम कहां जाओगे ?"[2]

शीतल काल का पूरा अनुभव लेते भी ध्यानी भिक्षुओं को हम 'थेरगाथा' में देखते हैं। चर्म-रोग से पीड़ित एक भिक्षु से जब भगवान् पूछते हैं कि—

हेमन्त की भयंकर शीतल रातें आ रही हैं,
हे भिक्षु ! तुम कैसे करोगे ?

तो वह उन्हें उत्तर देता है :

मैंने सुना है कि मगध के निवासी शस्य की सम्पन्नता से युक्त हैं,
उनका जीवन सुखी है। मैं भी उनके समान सुख अनुभव करता हूं।
शीत की वे रातें मैं इस पुआल-पुंज में लेटकर बिताऊंगा।[3]

भगवान् ने रात्रि में उठकर बोधिपक्षीय धर्मों की भावना करने का उपदेश दिया है। भिक्षु की रात्रि ध्यान करने के लिए है। एक भिक्षु का कहना है :

---

१. चापा का पति (उपक) काले रंग का था, इसीलिए वह उसे 'काल' (कृष्ण) कहकर पुकारती है।

२. थेरी गाथा, गाथाएं २९७-२९८।

३. थेरगाथा, गाथाएं २०७-२०८।

न ताव सुपितं होति रत्ति नक्खत्तमालिनी ।
पटिजग्गितुमेवेसा रत्ति होति विजानता ।।[1]

"यह तारों भरी रात सोने के लिए नहीं है । ज्ञानी के लिए यह रात जाग कर ध्यान करने के लिए है ।"

गिरिव्रज में जाकर ध्यान करने की एक भिक्षु की इच्छा का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं । उससे भी अधिक प्रभावशाली शब्दों में एक दूसरे स्थविर (तालपुट) ने अपनी इस इच्छा को व्यक्त किया है—

"कब मैं अकेला, बिना किसी साथी के, (गिरिव्रज की) पर्वत-कन्दराओं में ध्यान करता हुआ विचरूंगा । क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ?[2]"

"कब मैं एकान्त वन में विदर्शना भावना का अभ्यास करता हुआ निर्भय विचरूंगा ! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ?

कब मैं वन के उन मार्गों पर, जिन पर ऋषि (बुद्ध) चले, चलूंगा और वर्षाकाल के मेघ नये जल की वृष्टि चीवर पहने हुए मुझ पर करते होंगे । क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे[3] ?

कब मैं वन और गिरि-गुहाओं में कलंगी-धारी मयूर पक्षियों की मधुर ध्वनि को सुनकर अमृत की प्राप्ति के लिए जागरूक होकर ध्यान

---

१. थेरगाथा, गाथा १९३; मिलाइये गीता, "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।" थेरगाथा ने निशा के साथ 'नक्खत्तमालिनी' कह कर उसकी ध्यानमयता को अधिक बढ़ा दिया है और काव्यमयता को भी । नक्षत्रों से भरी यह रात ध्यान करने के लिए है, इसमें नक्षत्रों को आलम्बन बना कर ध्यान करने की ओर संकेत है । मनुष्य और उसके सान्त जगत् की अल्पता की अनुभूति करानेवाला नक्षत्रों से अधिक शायद ही कोई दूसरा ध्यान का विषय हो—दुःख, अनित्य और अनात्म का विराट् दर्शन यहां होता है । 'मानवता के शान्त, करुण संगीत' को यहां ध्यानी भिक्षु सुनते थे ।

२. 'कदानु हं पब्बतकन्दरासु एकाकियो अदुतियो विहस्सं ।
तं मे इदं तं नु कदा भविस्सति । थेरगाथा, गाथा । १०९१ ।।
विपस्समानो वीतभयो विहस्सं, एको वने तं नु कदा भविस्सति ।। १०९३ ।।

३. कदा नु मं पावुसकालमेघो, नवेन तोयेन सचीवरं वने ।
इसिप्पयातम्हि पथे वजन्तं ओवस्ससे, तं नु कदा भविस्सति ।। ११०२ ।।

करूंगा ! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे?[1] फिर अपने मन को सम्बोधन कर भिक्षु कहता है।

हे चित्त ! उस गिरिव्रज में अनेक विचित्र और रंग-विरंगे पंखधारी पक्षी हैं। सुन्दर, नीली ग्रीवा वाले, सुन्दर शिखा वाले, सुन्दर चोंच वाले और सुन्दर पंख वाले मोर हैं।

मेघ के मंजुल घोष को सुनकर उसका अभिनन्दन करते हुए वे नित्य ही मंजुल ध्वनि करते रहते हैं।

हे चित्त ! जब तू ध्यानी होकर वहां विचरेगा, तो ये तुझे कितने प्रीतिकर होंगे ![2]

शूकरों और मृगों से सेवित, प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त, पर्वत-शिखर पर या नये वर्षा-जल से सिक्त कानन में, किसी गुहा-गृह में, ध्यान लगाते हुए[3] ... मयूर और क्रौंच के रव से पूरित उस वन में, तेंदुओं और व्याघ्रों के सामने बसते हुए,[4] हे चित्त ! तुम ध्यानी को ये कितने प्रीतिकर होंगे !

तालपुट स्थविर के 'क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे?' इन शब्दों की प्रतिध्वनि हमें भर्तृहरि के इन शब्दों में मिलती है "गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य। किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये।" उन्होंने यह भी भावना प्रकट की है "एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः। कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः।" ऊपर हमने तालपुट स्थविर की उस भावना का उद्धरण दिया है जिसमें वे गिरिव्रज में उस मार्ग पर चलते हुए अपने को देखना चाहते हैं जिस पर भगवान् बुद्ध स्वयं चले थे (इसिप्पयातम्हि पथे

---

१. कदा मयूरस्स सिखण्डिनो वने, दिजस्स सुत्वा गिरिगब्भरे रुतं।
पच्चुट्ठहित्वा अमतस्स पत्तिया, संचिन्तये तं नु कदा भविस्सति॥ ११०३॥

२. सुनीलगीवा सुसिखा सुपेखुणा, सुचित्तपत्तच्छदना विहंगमा।
सुमञ्जुघोसत्थ निताभिगज्जिनो, ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि झायिनं॥ ११३६॥

३. वराहएणेय्य विगाल्हसेविते पब्भारकूटे पकटे व सुन्दरे।
नवम्बुना पावुससित्त कानने, तहिं गुहागेहगतो रमिस्ससि॥ ११३५॥

४. मयूरकोञ्चाभिरुदम्हि कानने, दीपीहि ब्यग्घेहि पुरक्खतो वसं॥ १११३॥
ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि झायिनं॥ ११३६॥

वजन्तं) । गोस्वामी तुलसीदास ने चित्रकूट के विषय में ऐसी ही भावना प्रकट की है : 'रे चित चेत चित्रकूटहिं चलु । थल विलोकि राम-पद-अंकित....।' राम-पद-अंकित स्थल देखने के लिए तुलसी विकल हैं और बुद्ध-प्रयात मार्ग पर चलने के लिए स्थविर तालपुट । एक और समानता यह भी द्रष्टव्य है कि बौद्ध भिक्षु के समान तुलसीदास की भी वृत्ति चित्रकूट के विशेषतः वर्षाकालीन सौन्दर्य ('सब दिन चित्रकूट नीको लागत .. वर्षा ऋतु विशेष') पर ही अधिक रमी है और 'गीतावली' के समान 'रामचरितमानस' के अयोध्याकाण्ड में भी उसके वर्षाकालीन सौन्दर्य का उन्होंने वर्णन किया है । गृध्रकूट और चित्रकूट में क्रमशः विदर्शना-भावना शील ध्यानी भिक्षु और 'राम-नाम जप निरत' वैष्णव साधु की साधनाओं में यहां कितना भेद या अभेद है, यह अच्छी प्रकार दिखाया जा सकता है, पर यहां अप्रासङ्गिक होगा । स्थविर तालपुट ने अपने मन को सम्बोधित करते हुए 'हे मन ! मैंने सदा तेरा आदेश पालन किया है । अनेक जन्मों में तुझे कभी कुपित भी नहीं किया । ....तेरे लिए अनेक बार जन्म लेकर मैंने चिरकाल तक दुःख को सहा है'[१] ('मोहि मूढ़ मन बहुत विगोयो ! याके लिये....मैं जग जनमि जनमि दुख रोयो'—तुलसी) आदि रूप से अनेक आत्मोद्‌बोधक उद्‌गार किये हैं, जिनकी तुलना बड़ी अच्छी प्रकार समर्थ रामदास के 'मनाचे श्लोक' और गोस्वामी तुलसीदासके 'विनय पत्रिका' के अनेक पदों से की जा सकती है । अनेकता में एकता की अनुभूति साधना के इन विभिन्न रूपों में भली प्रकार होती है, परन्तु यहां हमें प्रकृति-वर्णन तक ही अपने को सीमित रखना है ।

'थेरगाथा' के प्रकृति-वर्णन के समान भारतीय साहित्य में अन्य कुछ नहीं है । उसका सौन्दर्य अपना है । यह बात नहीं है कि भारतीय साहित्य में प्रकृति-काव्य की कमी है, या जो है, वह सुन्दर और मेध्य नहीं है । परन्तु मन को शम में डुबोने वाले और अध्यात्म-साधना में सहायक ऐसे वर्णन भारतीय साहित्य में अन्यत्र प्रायः दुर्लभ ही हैं ।

---

१. सब्बत्थ ते चित्त वचो कतं मया, बहूसु जातिसु न मेसि कोपितो ।
दुक्खे चिरं संसरितं तया कते । थेरगाथा, गाथा ११२६ ॥

: १५ :

श्री लंका

२७२½ मील लम्बा, १३७½ मील चौड़ा, लङ्का द्वीप विश्व का एक अत्यन्त रमणीय भूमि-भाग है। आकार की दृष्टि से अधिक बड़ा न होने पर भी उसका प्राकृतिक सौन्दर्य और वैभव महान् है। हाथी, मोती और बहुमूल्य रत्नों के लिए वह प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहा है। उसके निवासियों की शालीनता, उच्च संस्कृति और स्वभावतगत सौन्दर्य जगत्-प्रसिद्ध हैं। भारत के साथ तो लङ्का के सम्बन्ध प्रागैतिहासिक युग से हैं। भारतवर्ष (वृहत्तर भारत) के नव खण्डों या द्वीपों में उसकी गणना की गई है। अन्य आठ खण्डों या द्वीपों के नाम हैं, इन्द्र द्वीप, कशेरुमान्, गभस्तिमान्, नाग द्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वरुण और कुमारी-द्वीप। इनमें कुमारी-द्वीप प्रकृत भारत देश है और शेष आठ भाग वृहत्तर भारत के हैं। पालि परम्परा में सिंहल द्वीप (सीहल दीप) और ताम्रपर्णि द्वीप (तम्बपण्णि दीप) को, जिन दोनों से तात्पर्य वर्तमान श्री लङ्का या लंका द्वीप से है, जम्बुद्वीप (भारत देश) से अलग देश बताया गया है। ताम्रपर्ण के रूप में श्री लङ्का को वाल्मीकि-रामायण में समुद्र-पार स्थित बताया गया है। कौटिल्य विष्णुगुप्त ने उसका नाम 'पार-समुद्र' दिया है और उसे मणि और अगरु के लिए प्रसिद्ध बताया है। पूर्व और पश्चिम के अन्य अनेक देशों से भी उसका सम्बन्ध रहा है। चीन-निवासियों ने उसे 'रत्नों का द्वीप' कह कर पुकारा है। थाई-देश के निवासियों के लिए वह 'तवे-लङ्का' अर्थात् 'देवों की लङ्का' है। बर्मी लोग उसे 'तीहो' अर्थात् सिंह-विहार कह कर उसके प्रति सम्मान प्रकट करते हैं। सुदूर अरब देश में वह 'सेरेनदिव' नाम से प्रसिद्ध है, जो 'सिंहल-द्वीप' का ही विकृत रूप है। ग्रीक राजदूत मेगास्थनीज़ (चतुर्थ शताब्दी ईसवी पूर्व) ने अपनी 'इण्डिका' में लङ्का को 'टेप्रोबेन' नाम

दिया है, जो 'ताम्रपर्णि' (पालि तम्बपण्णि) का यूनानी प्रत्यक्षरीकरण है। 'ताम्रपर्णि' शब्द का अर्थ है तांबे के पत्र जैसे रंग वाला देश। लङ्का का यह प्राचीनतम नाम है। यह नाम उसका क्यों पड़ा, यह हम अभी देखेंगे। 'दि पेरिप्लस ऑव दि इरीथ्रियन सी' (प्रथम शताब्दी ईसवी) में लंका का नाम 'पेलिसिमुन्द' दिया गया है। स्पष्टतः यह नाम संस्कृत 'पारसमुद्र' की ग्रीक अनुलिपि है। आजकल लंका के लिए प्रायः 'लंका' और 'सिंहल', इन दो नामों का ही प्रयोग अधिक होता है। 'सिंहल' नाम एक किंवदन्ती के आधार पर पड़ा है, जिसकी ओर संकेत हम आगे चल कर करेंगे।

साधारण भारतीय जनता का लंका-सम्बन्धी ज्ञान अभी तक प्रायः कल्पनाश्रित अधिक है। रामायण ने रावण और उसकी सोने की लंका का जो चित्र हमें दिया है, वह अभी तक हमारे स्मृति-पटल पर अंकित है। अथवा हमारे मध्ययुगीन नाथपंथी साधुओं ने वज्रयानी बौद्धों की कृपा से सिंहल का 'सिद्ध पीठ' के रूप में जो एक काल्पनिक चित्र खींचा था, जिसका आधार जायसी ने अपने प्रेमाख्यान 'पदमावत' के पूर्वार्द्ध में लिया है, उसी का आश्रय लेकर हम कभी-कभी सिंहल द्वीप को पद्मिनी स्त्रियों से सम्बद्ध कर लिया करते हैं। परन्तु सिंहल राक्षसों, गन्धर्वों और पद्मिनियों का देश नहीं है। लंका-सम्बन्धी मध्य-युगीन वर्णन तो पूरे काल्पनिक हैं ही, रामायण-काल के लंका-भारत के सम्बन्धों की भी कोई निश्चित परम्परा बाद के इतिहास में नहीं चलती। लंका का पूर्ण रूप से ज्ञात और लेखबद्ध इतिहास तो पांचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व से आरम्भ होता है। तब से किस प्रकार उसके सामाजिक और राजनैतिक विकास में, उसके निवासियों की संस्कृति और स्वभाव में, उनकी कला, साहित्य और नाना संस्थाओं में, उनके उत्सवों, पर्वों, और प्रथाओं में, संक्षेपतः उनके सारे जीवन की रग-रग में, भारतीय रक्त-मांस समाया हुआ है, यह हम उसके इतिहास के किंचित् निर्देश से यहां देखने का प्रयत्न करेंगे।

लंका की ऐतिहासिक परम्परा भारत से कहीं अधिक अक्षुण्ण है। उसके प्राचीन काल (पांचवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व से लेकर चौथी शता-

ब्दी ईसवी तक)का इतिहास हमें प्रधानतः 'दीपवंस' और 'महावंस' जैसे इतिहास-ग्रंथों और 'समन्तपासादिका' (विनय-पिटक की अट्ठकथा, आचार्य बुद्धघोष-कृत) की भूमिका से मालूम होता है। 'दीपवंस' की रचना ३५० और ४०० ई० के बीच हुई, 'महावंस' छठी शताब्दी ई० की रचना है और बुद्धघोष का जीवन-काल चौथी-पांचवीं शताब्दी ईसवी है। पांचवीं शताब्दी ईसवी के बाद लंका का इतिहास 'महावंस' के परिवर्द्धित संस्करण 'चूलवंस' में वर्णित है। 'चूलवंस' कोई एकताबद्ध रचना नहीं है। उसे किसी एक लेखक ने भी नहीं लिखा, बल्कि भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न लेखकों ने काल के प्रवाह के साथ-साथ उसमें लंका के इतिहास का क्रमशःघटनावार वर्णन किया है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि मूलतः भारतीय मध्यमंडल की भाषा पालि में सिंहली लोगों ने अपने जातीय इतिहास को पांचवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व से लेकर ठीक वर्तमान काल तक ग्रथित किया है।

लंका के इतिहास की सर्वप्रथम घटना कुमार विजय का ४८३ ईसवी पूर्व (सिंहली परम्परा के अनुसार ५४४ ईसवी पूर्व) लंका में आगमन है। विजय कुमार या विजय 'सिंह' लाल (लाट-गुजरात) देश के राजा सिंहबाहु का पुत्र था। विजय के दुर्व्यवहार के कारण पिता ने उसे अपने देश से निर्वासित कर दिया था। साहसिक विजय अपने साथियों के साथ सुप्पारक (वर्तमान सोपारा, जिला ठाणा, बम्बई से ३७ मील उत्तर) आदि बन्दरगाहों में होता हुआ, लंका में ताम्रपर्णी नामक स्थान पर उतरा। 'महावंस' के वर्णनानुसार जिस दिन कुशीनगर में बुद्ध निर्वाण की प्राप्ति के लिए जुड़वां शाल वृक्षों के नीचे लेटे, उसी दिन कुमार विजय यहां आया। इसका अर्थ यह है कि ठीक बुद्ध-परिनिर्वाण के दिन विजय कुमार ने लंका में प्रवेश किया। जिस स्थान पर विजय और उसके साथी उतरे, उसके ताम्रवर्ण की मिट्टी के स्पर्श से उनके थके हुए हाथ तांबे के पत्र (तम्बपण्णि) जैसे हो गये थे, इसीलिए उस प्रदेश और द्वीप का नाम ताम्रपर्णि (तम्बपण्णि) पड़ा। कुमार विजय के पिता सिंहवाहु ने सिंह को मारा था। अतः वह 'सिंहल'

(सिहहन्ता पुरुष) कहलाता था । 'महावंस' के वर्णनानुसार उसी की स्मृति में सब लंकावासी 'सिंहल' कहलाये । अनेक स्थानों पर विजय और उनके साथियों ने ग्राम और नगर बसाये। विजय के एक साथी अनुराध ने कदम्ब नदी (वर्तमान मलवत्त ओय) के समीप अनुराध ग्राम बसाया। बाद में चलकर यही अनुराधपुर के नाम से प्राचीन लंका का प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर हुआ। अनुराध ग्राम से उत्तर गंभीर (वर्तमान योदि एल) नदी के किनारे उपतिष्य पुरोहित ने उपतिष्य ग्राम बसाया। इसी प्रकार भारतीय नगरों के नाम पर, उज्जेनी, उरुवेला और विजितपुर नामक तीन नगर भी बसाये गए। विजय लंका का प्रथम अभिषिक्त राजा हुआ और उसने ताम्रपर्णि नगर में ३८ वर्ष राज्य किया। विजय के बाद के उसके उत्तराधिकारी राजाओं की लम्बी सूची देने की यहां आवश्यकता नहीं है। विजय के लगभग २०० वर्ष बाद लंका के सिंहासन पर देवानं पिय तिस्स (२४७ ई० पू० से २०७ ई० पू० तक, जबकि ४८३ ई० पू० बुद्धाब्द से आरम्भ करें; सिंहली परम्परा के अनुसार इसमें ६० वर्ष और जोड़ने पड़ेंगे) राजा अभिषिक्त हुआ। इस राजा का शासन-काल लंका के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध धर्म का लंका में प्रवेश देवानं पिय तिस्स के समय में ही हुआ। देवानं पिय तिस्स भारतीय सम्राट् अशोक का समकालिक था। दोनों एक दूसरे के मित्र थे और दोनों में भेंटों का आदान-प्रदान भी हुआ था। अन्य भेंटों के साथ सद्धर्म की भेंट भेजते हुए धर्माशोक ने देवानं पिय तिस्स को सन्देश भेजा था, "मैंने बुद्ध, धर्म और संघ की शरण ग्रहण की है और शाक्य-पुत्र के शासन में उपासकत्व प्राप्त किया है। हे नरेन्द्र ! आप भी चित्त की प्रसन्नता और श्रद्धा के साथ इन उत्तम रत्नों की शरण ग्रहण करें।"[1] देवानं पिय तिस्स ने राजा अशोक के इस आदेश

---

१. अहं बुद्धं च धम्मं च संघं च सरणंगतो ।
उपासकत्तं वेदेसिं सक्यपुत्तस्स सासने ॥
त्वं पि इमानि रतनानि उत्तमानि नरुत्तम ।
चित्तं पसादयित्वान सद्धाय सरणं भज ॥

को पूरा किया । अशोक के समय में हुई तृतीय धर्म-संगीति के बाद उसके सभापति स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने भिन्न-भिन्न देशों में भिक्षुओं को बुद्ध-धर्म के प्रचारार्थ भेजा। स्थविर मज्झन्तिक को कश्मीर और गंधार, स्थविर महादेव को महिषमंडल, स्थविर रक्षित को वन-वास (मैसूर का उत्तरी भाग), ग्रीक भिक्षु धर्मरक्षित को अपरान्त (बम्बई से सूरत तक का प्रदेश), स्थविर महाधर्मरक्षित को महाराष्ट्र, स्थविर महारक्षित को यवन-देश, स्थविर मज्झिम को हिमालय प्रदेश, स्थविर सोण और उत्तर को स्वर्ण-भूमि (बर्मा), इस प्रकार अनेक भिक्षुओं को अनेक देशों में भगवान् बुद्ध का करुणामय सन्देश सुनाने को भेजा गया। अशोक के प्रव्रजित पुत्र कुमार महेन्द्र और इट्ठिय, उत्तिय, सम्बल और भद्रशाल इन अन्य चार स्थविरों को स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने यह कह कर लंका द्वीप में भेजा, "तुम मनोज्ञ लंका द्वीप में जाकर मनोज्ञ बुद्ध-धर्म की स्थापना करो।" स्थविर महेन्द्र और उनके साथी भिक्षुओं के लंका पहुंचते ही नर-नारियों के झुंड उनके दर्शनार्थ दौड़ पड़े। सबको उन्होंने अपने धर्मोपदेश से तृप्त किया। देवानं पिय तिस्स को अपना परिचय देते हुए महेन्द्र ने उससे कहा--

'समणा मयं महाराज धम्मराजस्स सावका।
तवेव अनुकम्पाय जम्बुदीपा इधागता॥

"हे राजन्! हम धर्मराज (बुद्ध) के शिष्य भिक्षु हैं और तुझ पर अनुग्रह करने के लिए ही भारत से यहां आये हैं।" स्थविर महेन्द्र के उपदेश को सुन कर राजा देवानं पिय तिस्स और सैकड़ों लंका-वासी स्त्री-पुरुषों ने बुद्ध-धर्म में दीक्षा प्राप्त की। स्थविर महेन्द्र लंका के लिए जैसे दूसरे बुद्ध हुए। "बुद्ध के समान अनुपम, द्वीप के दीपक, स्थविर ने लंका द्वीप में दो स्थानों पर द्वीप की ही भाषा में उपदेश देकर सद्धर्म की स्थापना की।" लंका-निवासी समृद्ध और सुसंस्कृत तो पहले से थे ही। भारत के साथ व्यापारियों के द्वारा उनका सांस्कृतिक सम्बन्ध भी था ही। विजय के बाद अनेक भारतीय परिवार भी वहां जाकर बस गये थे। अशोक और देवानं पिय तिस्स के मित्रतापूर्ण सम्बन्धों का हम अभी उल्लेख कर चुके हैं। इसी सब सांस्कृतिक पृष्ठभूमि ने स्थविर

महेन्द्र के कार्य को अभूतपूर्व सफलता प्रदान की। थोड़े ही समय में भारत की तरह लंका द्वीप भी काषाय वस्त्रों से प्रकाशवान् हो गया। स्थविर महेन्द्र और उनके अनेक साथी भिक्षुओं के निवास के लिए राजा देवानं पिय तिस्स ने 'महाविहार' और 'चेतियपब्बत विहार' (चैत्य-पर्वत विहार) नामक दो विहार बनवाये, जिन्हें उसने भिक्षु-संघ को समर्पित किया। अनुराधपुर का 'महाविहार' इसी समय से लंका में बौद्ध संस्कृति का केन्द्र बन गया। भगवान् बुद्ध के भिक्षा-पात्र को, जिसे श्रद्धालु राजा देवानं पिय तिस्स ने अशोक से प्राप्त किया था, और उनकी दाहिनी हंसली की धातु (हड्डी) को स्थापित कर लंकाधिराज ने एक विशाल स्तूप बनवाया और उसी के समीप स्तूपाराम (थूपाराम) नामक एक विहार भी बनवाया। राजा, उसके अन्तःपुर की क्षत्राणियों, नागरिकों और सहस्रों की संख्या में ग्रामीण जनता ने भगवान् के धातुओं की पूजा की। बुद्ध-धर्म लंका का राष्ट्रीय धर्म हो गया। तब स वह इसी प्रकार चला आ रहा है। स्थविर महेन्द्र अपने साथ पालि तिपिटक को भी लंका ले गये थे, जिसका उन्होंने वहां प्रचार किया। सिंहली भाषा में उस पर उन्होंने व्याख्याएं भी लिखीं। कहा जाता है कि स्थविर महेन्द्र द्वारा सिंहली भाषा में लिखे हुए ग्रन्थ आकार में औसत कद के छह हाथियों की ऊँचाई के बराबर थे। बुद्ध-धर्म का प्रचार बढ़ने पर स्त्रियों की ओर से भी प्रव्रजित होने की मांग आई। उनके उप-सम्पदा-संस्कार के लिए स्थविर महेन्द्र की भगिनी भिक्षुणी संघमित्रा को बुलाने की व्यवस्था की गई। सम्राट् अशोक ने राजा देवानं पिय तिस्स की प्रार्थना पर बड़ी प्रसन्नतापूर्वक भिक्षुणी संघमित्रा को और उसके साथ बोधिवृक्ष की शाखा को आदरपूर्वक सिंहल भेज दिया। देवानं पिय तिस्स ने राजकीय सम्मान के साथ देवी संघमित्रा का स्वागत किया और बोधि-वृक्ष की शाखा को अनुराधपुर में लगाया, जहां वह एक विशाल वृक्ष के रूप में आज भी विद्यमान है। सिंहल और भारत के सांस्कृतिक गठबन्धन का इससे अधिक अच्छा प्रतीक आज नहीं मिल सकता। भिक्षुणी संघमित्रा ने प्रथम बार लंका में भिक्षुणी-संघ की स्थापना की। स्थविर महेन्द्र की प्रेरणा से देवानं पिय तिस्स ने

सैकड़ों विहारों, आरामों और स्तूपों का निर्माण किया। देवानं पिय तिस्स की मृत्यु (२०७ ईसवी पूर्व) के आठ वर्ष बाद स्थविर महेन्द्र का भी ६० वर्ष की अवस्था में परिनिर्वाण हो गया। उसके एक वर्ष बाद भिक्षुणी संघमित्रा भी चल बसी। इस समय बुद्ध-शासन की नींव सिंहल में दृढ़ रूप से जम चुकी थी। देवानं पिय तिस्स की मृत्यु के लगभग ३० वर्ष बाद दमिल(तमिल)लोगों ने अनुराधपुर पर अधिकार कर लिया और ६२ वर्ष तक वह उनके अधिकार में रहा। तत्कालीन सिंहली राजा की क्षमा-वृत्ति और युद्ध के प्रति उपेक्षा की भावना के कारण ही यह नगर उसके हाथ से चला गया था। किन्तु वीर दुट्ठगामणि (दुष्टगामणि—जो अपनी वीरता और युद्ध-प्रियता के कारण ही अपने अहिंसक पिता के द्वारा 'दुष्ट' करार दे दिया गया था) ने पड़ोसी आक्रान्ताओं को परास्त किया और लंका के राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा की। वीर दुट्ठगामणि ने १६१ ईसवी-पूर्व फिर अनुराधपुर पर अधिकार कर लिया। बुद्ध-धर्म के लिए भी उसने बहुत कुछ किया। मरिचवट्टि विहार और विशाल लोह-प्रासाद नामक विहारों को उसने बनवाया। लोह-प्रासाद की नौ मंजिलें थीं, उनमें से प्रत्येक में सौ-सौ कमरे थे। इस प्रासाद की छतें तांबे (लोह) की ईंटों से पाटी गई थीं, इसीलिए यह 'लोह-प्रासाद' कहलाता था। नौ मंजिलों पर बने हुए सौ-सौ कूटागारों में से प्रत्येक चांदी से खचित था। "उन कूटागारों की मूंगे की वेदिकाएं नाना प्रकार के रत्नों से विभूषित थीं। उन वेदिकाओं के कमल नाना प्रकार के रत्नों से खचित थे और वे वेदिकाएं चांदी की छोटी-छोटी घंटियों से घिरी थीं। उस प्रासाद में नाना रत्नों से खचित, खिड़कियों से सुशोभित, एक हजार सजे हुए कमरे थे।" लोह-प्रासाद के खंडहर आज भी अनुराधपुर के समीप देखे जा सकते हैं। दुट्ठगामणि ने महास्तूप नामक एक चैत्य और भी बनवाना आरम्भ किया था, परन्तु उसके पूरा होने के पहले ही उसकी मृत्यु हो गई। मरते समय उसने अपने भाई तिष्य को आदेश दिया, "तिष्य! असमाप्त महास्तूप का शेष सब कृत्य आदरपूर्वक समाप्त करना। स्वयं प्रातःकाल उस पर पुष्प चढ़ाना। प्रति दिन तीन बार उसकी पूजा करना। बुद्ध-शासन

सम्बन्धी जो कृत्य मैंने निश्चित किये हैं, उन सभी कृत्यों को तुम अवि-च्छिन्न रूप से चलाते रहना। हे तात ! संघ-सम्बन्धी कार्यों में कभी प्रमाद मत करना।" मरने से पूर्व रोगी राजा ने पालकी में लेट चैत्य की प्रदक्षिणा की और धर्म-श्रवण करते-करते मृत्यु प्राप्त की। कहने की आवश्यकता नहीं कि वीर दुट्ठगामणि ने जिन विहारों और स्तूपों का निर्माण करवाया था, उनकी शैली भारतीय ही है। भरहुत और सांची की वास्तुकला की उन पर पूरी छाप है। वीर दुट्ठगामणि ने पूजा-समारोह में भारतीय भिक्षुओं को भी निमंत्रित किया था और राजगृह, जेतवन, महावन (वैशाली), घोषिताराम (कौशाम्बी), दक्षिणा-गिरि (उज्जेनी), पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) और विन्ध्याटवी के सैकड़ों भिक्षुओं ने उसमें भाग लिया था। दुट्ठगामणि के बाद अनेक राजा सिंहल के शासक हुए। 'दस राजा', 'ग्यारह राजा', 'बारह राजा', 'तेरह राजा' शीर्षकों से 'महावंस' में इनकी वंशावलियों का विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व वट्टगामणि अभय का शासन-काल लंका में बुद्ध-धर्म के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पालि तिपिटक, जिसे स्थविर महेन्द्र तथा अन्य भिक्षु तीसरी शताब्दी ईसवी-पूर्व लंका में ले गये थे, इसी समय प्रथम बार लेखबद्ध किया गया। तीसरी-चौथी शताब्दी ईसवी में लंकाधिपति कीर्ति श्री मेघवर्ण के समय में भगवान् बुद्ध का दन्त-धातु लंका में लाया गया। बोधिवृक्ष की शाखा के बाद यह लंका की दूसरी राष्ट्रीय निधि है। आजकल यह काण्डी में सुरक्षित है और प्रति वर्ष अगस्त के महीने में सिंहली जनता बड़े सम्मान के साथ इसकी पूजा करती है। कीर्ति श्री मेघवर्ण के ही शासन-काल में एक और महत्त्वपूर्ण घटना हुई, जो सिंहल और भारत के सांस्कृतिक इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगी। यह है कीर्ति श्री मेघवर्ण द्वारा अपने समकालिक भारतीय गुप्तवंशीय सम्राट् समुद्रगुप्त के पास भेंट भेजना और उसकी अनुमति से बोध-गया में एक सिंहल-संघा-राम (सिंहली विहार) बनवाना। सातवीं शताब्दी में भारत आने वाले चीनी यात्री युआन्-चुआङ् ने इस विहार को देखा था। इसके बाद कुछ अन्य सिंहल विहारों की भी स्थापना भारत में हुई और अनेक प्रसिद्ध

सिहली भिक्षुओं का भारत में आना-जाना होता रहा। चतुर्थ शताब्दी में राजा महासेन के समय में जेतवन विहार, मणिहीर विहार और थूपाराम विहार नामक विहारों का निर्माण किया गया और दो भिक्षुणी-विहारों की भी स्थापना की गई। चौथी-पांचवीं शताब्दी में ही, जब कि लंका में महासेन नामक राजा राज्य करता था, बुद्धघोष महास्थविर ने भारत से लंका जाकर वहां सिहली अट्ठकथाओं का अध्ययन किया और अपने विशाल अट्ठकथा-साहित्य तथा प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ विशुद्धि-मार्ग (विसुद्धिमग्गो) की रचना की। पांचवीं शताब्दी में ही प्रसिद्ध चीनी यात्री फा-ह्यान, जो भारत आया था, लंका भी गया और वहां दो वर्ष तक रहा। यह भी चीन, भारत और लंका के सांस्कृतिक इतिहास को मिलाने वाली एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। पालि बौद्ध साहित्य के विकास की दृष्टि से लंका के राजा पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६) का शासन-काल भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस समय सिंहली भिक्षु सारिपुत्त और उनके शिष्यों ने बुद्धघोष-कृत अट्ठकथाओं पर पालि भाषा में टीकाएं लिखने का कार्य आरम्भ किया जो आगे की कई शताब्दियों तक चलता रहा। ठीक आधुनिक युग के आरम्भ तक लंका के राजाओं और साधारण जनता ने बड़े उत्साहपूर्वक बुद्ध-धर्म के संरक्षण और प्रचार का कार्य किया है। लंका से ही बुद्ध-धर्म का सन्देश बर्मा, थाई-देश, लाओस और वियतनाम आदि देशों को गया और इन देशों के साथ उसका सांस्कृतिक सम्बन्ध और पारस्परिक आदान-प्रदान बराबर बना रहा।

आधुनिक युग के आते-आते लंका भी भारत के समान पराधीन हो गया। पुर्तगाली, डच और अंग्रेज, सभी ने क्रम-क्रम से इस द्वीप का शोषण किया। ईसाई धर्म के प्रचार से बुद्ध-धर्म को भी गहरा धक्का लगा। करीब पांच सौ वर्ष के कड़े प्रचार-कार्य के बाद ईसाई लोग छह प्रतिशत सिंहली जनता को ईसाई बनाने में सफल हो गये। किन्तु धीरे-धीरे पुनर्जागरण का काल आया और लंका ने अपने आप को संभाला। आज वहां फिर बुद्ध-शासन अपनी पूरी ज्योति से चमक रहा है। जिस ज्योति को महेन्द्र और अन्य भिक्षु वहां ले गये थे, उसे फिर सिंहली

जनता हमें वापस देने को तैयार है, यदि हमारी पूरी तैयारी हो। (यह प्रसन्नता की बात है कि काफी अंश वह दे भी चुकी है)। सिंहल का जो कुछ है, सब अपना है। सिंहल सब प्रकार भारत का 'अनुजात' है। सिंहली साहित्य भारतीय भावनाओं से ओत-प्रोत है। उसमें से बुद्ध-धर्म निकाल लिया जाय तो कुछ नहीं बच रहता। सिंहली कला, शिल्प, संगीत, उत्सव और पर्व, सब भारतीय देन के हैं। अनुराधपुर के जंगल में ध्यान मुद्रा में खड़ी हुई विशाल बुद्ध-प्रतिमा कितनी प्रेरणामयी है! सिंहली संगीत कितना करुण-रसपूर्ण और वैराग्य की भावनाओं से भरा हुआ है! सिंहली जनता भी भारतीय जनता के समान कितनी अल्प-संतोषी, अल्प-सन्तोष की ही प्रशंसक और पर-शोषण से विरत रहने वाली है। यह 'धम्म' का ही उसके जीवन पर व्यापक प्रभाव है। निश्चय ही सिंहल 'धर्म-द्वीप' है। उसने 'धम्म' का उसके विशुद्धतम रूप में संरक्षण किया है, जबकि भारत उस विरासत को भूल चुका है। आज भारत और सिंहल स्वतंत्र हैं और अपना-अपना भाग्य-निर्माण करने की उन्हें पूरी स्वतंत्रता है। हमें आशा रखनी चाहिए कि भारत माता विजय-सन्तानों को, अपने 'सिंह-पुत्रों' को, उसी प्रकार अपने वात्सल्य का भाजन समझेगी जिस प्रकार वह वंग, गुजरात और मध्यमंडल के अपने पुत्रों को समझती है। माता कुमाता कभी नहीं होगी। साथ ही हमें यह भी विश्वास रखना चाहिए कि जिस एक जनता को तथागत ने अपने 'धम्म' की धरोहर का उपयुक्त पात्र बनाया, वह भी मैत्री-भावना के अभ्यास और प्रसार में किसी से कम न रहेगी। यही भारत और सिंहल का नव भाग्योदय होगा, जबकि ढाई हजार वर्ष पूर्व रूठ कर गया हुआ विजय, अपनी सन्तानों-सहित, पुनः आकर माता के चरणों में सिर नवायेगा और वह उसे अंक में भर कर उसके सिर को सूंघेगी। जय सिंहल ! जय भारत !

: १६ :

प्रसेनजित् कोसलराज

भगवान् बुद्ध का समवयस्क कोसलराज प्रसेनजित् एक आकर्षक व्यक्तित्व का पुरुष था। कोसल देश के राजा महाकोसल का वह पुत्र था। कोसला देवी उसकी बहिन थी, जिसका विवाह मगधराज बिम्बिसार से हुआ था। धम्मपदट्ठकथा के अनुसार प्रसेनजित् की शिक्षा तक्षशिला विश्वविद्यालय में हुई थी, जहां बन्धुल मल्ल और महालि लिच्छवि उसके सहपाठी थे।

प्रसेनजित् को हम पहले वैदिक यज्ञवाद में श्रद्धावान् देखते हैं। उसने एक महायज्ञ का आयोजन किया था जिसमें ५०० बैल, ५०० बछड़े, ५०० बछड़ियां, ५०० भेड़ें, और ५०० बकरे बलि दिये जाने वाले थे! ब्राह्मणों का वह आदर करता था और अनेक ब्राह्मणों को उसकी ओर से गांव दान के रूप में मिले हुए थे। उदाहरणतः उक्कट्ठा गांव उसने दान-स्वरूप पोक्खरसादि (पौष्करसाति या पुष्कलसादी) नामक ब्राह्मण को दिया था। इसी प्रकार सालवतिका लोहिच्च ब्राह्मण को और ओपसाद चंकि ब्राह्मण को दिये गये थे। श्रावस्ती-निवासी जानुस्सोणि ब्राह्मण का, जो बड़े ठाठ-बाट से रहता था, वह दान-मानादि से सत्कार करता था। अग्गिदत्त (अग्निदत्त) ब्राह्मण का, जो प्रसेनजित् के पिता महाकोसल का पुरोहित था और बाद में प्रसेनजित् का पुरोहित बना, प्रसेनजित् बड़ा आदर करता था और उसकी सुख-सुविधा का सदा ध्यान रखता था। बावरि ब्राह्मण प्रसेनजित् का विद्या-गुरु था और भूमि, सम्पत्ति आदि से राजा प्रसेनजित् ने उसकी सब प्रकार से सेवा की, जब तक वह उसके राज्य में रहा। बाद में यह ब्राह्मण तपस्या के लिए दक्षिणापथ में गोदावरी के तट पर चला गया था और वहीं आश्रम बना कर रहने लगा था।

भगवान् बुद्ध में प्रसेनजित् की श्रद्धा धीरे-धीरे उत्पन्न हुई और बाद में उसने गहरी अनुरक्ति और आत्मीयता का रूप धारण कर लिया। पहले हम उसे भगवान् के पास यह शंका लेकर जाते देखते हैं कि भगवान् बुद्ध अवस्था में अन्य धर्माचार्यों की अपेक्षा कम हैं, फिर भी वे अपने को बोधि-प्राप्त कहते हैं, यह कैसे ? बुद्ध उसे इसका यह उत्तर देते हैं कि ज्ञानी की आयु नहीं देखनी चाहिए, क्योंकि ज्ञान की प्राप्ति आयु पर निर्भर नहीं करती। हमें ज्ञानी के ज्ञान की परीक्षा करनी चाहिए, उसकी आयु की ओर नहीं देखना चाहिए। प्रसेनजित् की रानी मल्लिका भगवान् बुद्ध में पहले से ही श्रद्धावती थी। एक बार प्रसेनजित् उससे संलाप करते हुए भगवान् बुद्ध का निर्देश करते हुए न तो उनके प्रति कोई श्रद्धा ही प्रदर्शित करता है और न उन्हें 'भगवान्' कह कर ही पुकारता है, बल्कि केवल इतना कहता है, "मल्लिका ! तेरे श्रमण गौतम ने यह कहा है।" बुद्ध के कई उपदेश उसकी समझ में नहीं आते और वह मल्लिका से उनके बारे में पूछता है। विशेषतः उसकी समझ में यह नहीं आता कि बुद्ध प्रेम से दुःख की उत्पत्ति किस प्रकार मानते हैं। मज्झिम-निकाय के पियजातिकसुत्तन्त और संयुत्त-निकाय के मल्लिका-सुत्तन्त में प्रसेनजित् और मल्लिका के इस विषय पर संलाप निहित हैं।

प्रसेनजित् विचारक है, जीवन के साथ सम्बन्ध मिलाते हुए धर्म के विषय में सोचता है। उसकी अपनी आध्यात्मिक कठिनाइयां हैं, उसके अपने अनुभव हैं, जिन्हें वह समय-समय पर भगवान् के सामने रखता है और उनका समाधान चाहता है। धीरे-धीरे, सोचते-विचारते उसकी श्रद्धा बढ़ती है और बिम्बिसार के समान एक स्थिति ऐसी आती है कि वह पुत्र-सहित, भार्या-सहित, अमात्य-सहित बुद्ध का शरणागत उपासक हो जाता है। भगवान् बुद्ध के साथ उसने उनके उपदेशों के सम्बन्ध में, अपने स्वकीय चिन्तन के सम्बन्ध में तथा अन्य कई महत्व-पूर्ण अनुभवों सम्बन्धी विषयों पर संलाप किये हैं, जो संयुत्त-निकाय के पुरिस-सुत्त, पिय-सुत्त, अत्तरक्खित-सुत्त, अप्पक-सुत, अप्पमाद-सुत्त, लोक-गुत्त, इस्सत्थ-सुत्त, तथा पब्बतूपम-सुत्त आदि में निहित है। कचहरी में

बड़े-बड़े आदमियों को भी झूठ बोलते देख उसे कचहरी करने से ग्लानि हो जाती है, जिसका निवेदन उसने भगवान् से संयुत्त-निकाय के अत्थ-करण-सुत्त में किया है। अपनी दादी की मृत्यु के पश्चात् वह शांति प्राप्त करने के लिए भगवान् बुद्ध के पास जाता है। एक बार की बात है कि प्रसेनजित् ने कुछ बुरे स्वप्न देखे। ब्राह्मणों से पूछा तो उन्होंने उन्हें अनिष्टसूचक बताया और अनिष्ट के निवारणार्थ यज्ञों के जाल में राजा को फंसा दिया। बाद में मल्लिका की सलाह पर जब वह बुद्ध से मिलने गया तो उन्होंने उसके भय को किसी प्रकार दूर किया। एक बार आनन्द के साथ अचिरवती नदी के किनारे सत्संग करते और उन्हें बाहित-देश-निर्मित वस्त्र भेंट करते प्रसेनजित् को हम मज्झिम-निकाय के बाहि-तिय-सुत्तन्त में देखते हैं। श्रावस्ती और साकेत के बीच में तोरणवत्थु नामक ग्राम में उसने मेधाविनी भिक्षुणी खेमा से कुछ दार्शनिक प्रश्न पूछे थे, जो उसकी जिज्ञासु प्रवृत्ति का परिचय देते हैं।

कन्या का पिता बनना बुद्ध-काल में राजाओं तक को कितना कष्टकर लगता था, यह हम प्रसेनजित् के एक जीवन-प्रसंग में देखते हैं। एक बार की बात है कि राजा धर्म-संलाप करते हुए भगवान् बुद्ध के पास बैठा था। इसी समय उसका एक नौकर आया और उसने धीरे से राजा के कान में एक समाचार दिया। समाचार यह था कि रानी मल्लिका देवी के पुत्री उत्पन्न हुई है। कहा गया है कि इस समाचार को सुनते ही राजा का चेहरा पीला पड़ गया। भगवान् ने उसे समझाया कि कोई-कोई स्त्री भी पुरुष से अधिक बुद्धिमती और शीलवती होती है और राष्ट्र के लिए उत्तम शासक को जन्म देती है। भगवान् ने उससे कहा कि उसे स्नेहपूर्वक कन्या का पालन-पोषण करना चाहिए।

अपने वर्ग के अन्य व्यक्तियों की तरह प्रसेनजित् कुछ विलासी स्वभाव का भी था। मल्लिका रानी के अलावा सोमा और सकुला दो बहिनें भी उसकी रानियां थीं। वासभखत्तिया से उसने विवाह किया ही था, जिससे उसका पुत्र विडूडभ था। प्रसेनजित् की रानियां कोम-लाङ्गी और सुगन्ध-विलेपन आदि से विभूषित रहती थीं, ऐसा संयुत्त-निकाय के थपति-सुत्त में कहा गया है। भोजन का भी राजा प्रसेनजित्

शौकीन था। संयुत्त-निकाय के दोणपाक-सुत्त में कहा गया है कि प्रसेनजित् पहले द्रोण (करीब ४ सेर) भर खाना खाता था और खाने के बाद लम्बी-लम्बी सांसें लिया करता था। परन्तु बाद में भगवान् से परिमित आहार की प्रशंसा सुनकर वह कम खाने लगा और इस प्रकार कम खाते-खाते वह क्रमशः एक नालि (करीब डेढ़ सेर) भर ही भोजन करने लगा। इस प्रकार अल्पाहार से जब प्रसेनजित् अधिक स्वस्थ हो गया और उसके अंगों में समता आई, तो एक बार अपने कपोलों पर हाथ फेरते हुए उसने कहा, "भगवान् ने दोनों ही प्रकार से मुझ पर अनुकम्पा की है—इस लोक की बातों में भी और परलोक की बातों में भी।"

प्रसेनजित् में हृदय के गुण विद्यमान थे। कुमारी वजिरी (वजिरा) उसे प्राणों से भी प्रिय थी। अपनी प्रजा में भी वह अनुरक्त था। एक बार पूछे जाने पर वह कहता है "काशी-कोसल के लोग मुझे प्रिय हैं। काशी-कोसल के लोगों की कृपा से ही तो हम काशि-चन्दन का उपभोग करते हैं, माला, गन्ध और विलेपन धारण करते हैं।" इस गुण के साथ प्रसेनजित् में एक दोष भी था। वह कानों का कच्चा था। यही कारण था कि उसने बन्धुल मल्ल को मरवाया, जिसके लिए उसे पश्चात्ताप भी काफी करना पड़ा और मूल्य भी काफी चुकाना पड़ा।

प्रसेनजित् की अन्तिम बार भगवान् बुद्ध से भेंट हम मज्झिम-निकाय के धम्मचेतिय-सुत्तन्त में देखते हैं। यह भेंट शाक्यों के उलुम्पा या मेदलुम्प नामक कस्बे में हुई थी। इस समय भगवान् बुद्ध और प्रसेनजित् दोनों अस्सीवें वर्ष की आयु में चल रहे थे। भगवान् की प्रदक्षिणा कर प्रसेनजित् का जाना था कि उसके बाद ही दीर्घ कारायण ने विड़ूडभ को राजा घोषित कर दिया और प्रसेनजित् को भाग कर राजगृह जाना पड़ा, जहां के द्वार पर स्थित धर्मशाला में उसे ठहरना पड़ा, क्योंकि रात को काफी देर से पहुंचा था और तब तक नियमानुसार नगर के दरवाजे बन्द हो गए थे। उसी रात को ठंड लग जाने के कारण उसकी मृत्यु हो गई।

: १७ :

महाकवि अश्वघोष और उनका पौराणिक ज्ञान

महाकवि अश्वघोष संस्कृत साहित्य के अमर कवियों में हैं। आदि कवि वाल्मीकि के वे परवर्ती और महाकवि कालिदास और भास के पूर्ववर्ती हैं। इस प्रकार संस्कृत काव्य-परम्परा में उनका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वर्तमान शताब्दी से पूर्व आर्य अश्वघोष के नाम से भी इस देश में कोई परिचित न था, परन्तु आज उनके मुख्य ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है[1] और कवि और विचारक के रूप में उनकी महिमा दिन-दिन बढ़ रही है।

अश्वघोष के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में हमारी जानकारी अधिक नहीं है। चीनी परम्परा के अनुसार, जो प्रायः प्रामाणिक मानी जाती है, ये कुषाणवंशीय महाराज कनिष्क के समकालीन और उनके गुरु थे। इस प्रकार उनका जीवन-काल ५० ई० पूर्व से लेकर १०० ई० तक के लगभग माना जाता है। अन्य चीनी और तिब्बती परम्पराओं के अनुसार उनका जीवन-काल बुद्ध-परिनिर्वाण के ३००, ६०० या ८०० वर्ष बाद बताया गया है[2]। महाकवि अश्वघोष ने अपनी रचनाओं के अन्त में अपने जीवन-सम्बन्धी जो अल्प सूचना दी है, उससे ज्ञात होता है कि उनका जन्म साकेत (अयोध्या) में हुआ था और उनकी माता का

---

१. यह प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी में श्री सूर्यनारायण चौधरी ने महाकवि अश्वघोष के दो काव्य-ग्रंथों 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' को सुसम्पादित कर सानुवाद प्रकाशित किया है। इस लेख में उद्धरण इन्हीं संस्करणों से हैं।

२. थॉमस वाटर्स : ऑन् यूआनचुआङस् ट्रेविल्स इन इण्डिया, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०३।

नाम सुवर्णाक्षी था। अपनी तीन प्रसिद्ध कृतियों 'बुद्ध-चरित,' 'सौन्दरनन्द' और 'शारिपुत्र-प्रकरण' के अन्त में उन्होंने कहा है "आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्"। महाकवि होने के साथ-साथ अश्वघोष अपने समय के प्रतिष्ठित आचार्य, प्रतिभाशाली विद्वान् भिक्षु, महान् तार्किक और प्रज्ञासम्पन्न विचारक थे। चीनी परम्परा के अनुसार उनके पिता का काम सैंह्यगुह्य था, जो अपने समय के न्यायशास्त्र के प्रसिद्ध ब्राह्मण पंडित थे।

महाकवि का नाम 'अश्वघोष' क्यों पड़ा, इसके सम्बन्ध में अनेक मनोरंजक किंवदन्तियां मिलती हैं। एक परम्परा का कहना है कि जिस दिन अश्वघोष का जन्म हुआ था, उस दिन घोड़े हिनहिनाये थे, इसलिए उनका यह नाम रक्खा गया। एक दूसरी परम्परा का कहना है कि एक दिन जब अश्वघोष धर्मोपदेश कर रहे थे तो उनके मंजुल स्वर को सुनकर भूखे घोड़े दाना-घास खाना भूल गये और धर्मोपदेश सुनते हुए आध्यात्मिक उल्लास में हिनहिनाने लगे। इसलिए उनका यह नाम पड़ा। एक जगह अश्वघोष के लिये 'घोरविन्' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसके अन्दर भी यही भाव निहित है कि वे अपने मधुर स्वर से घोड़ों (घोर) को मन्त्रमुग्ध करने की अपूर्व शक्ति रखते थे। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि अश्वघोष एक संगीतज्ञ भिक्षु थे और संगीत को उन्होंने बौद्धधर्म के प्रचार का साधन बनाया था। वीणा के वे एक कुशल वादक थे। उन्होंने 'रास्तवर' नामक एक वाद्य-यन्त्र का आविष्कार भी किया था 'जिसका करुण, मंजुल संगीत श्रोताओं को जीवन के दुःख, असारता और अनात्मतत्व पर चिन्तन करने के लिए बाध्य करता था"[1] तिब्बती भाषा में लिखी हुई अश्वघोष की जीवनी से विदित होता है कि अनुगामी गायक-गायिकाओं की मण्डली को लिये हुए यह वीणावादक भिक्षु कश्मीर और पेशावर की गलियों में वैराग्य के गीत गाता फिरता था और भारी जन-समुदाय को बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट करता था।

---

१ सुजुकी : दि अवेकनिंग आॅव फेथ इन बुद्धिज्म(महायान-श्रद्धोत्पाद शास्त्र के चीनी रूपान्तर का अंग्रेजी अनुवाद), पृष्ठ ३५।

चीनी यात्री इ-त्सिङ् ने ६७१-६९५ ईसवी के बीच भारत में भ्रमण करते हुए लिखा है कि उस समय भारत के बौद्ध विहारों में अश्वघोष की काव्य-कृतियों का संगायन होता था। इसमें सन्देह नहीं कि संगीतात्मकता अश्वघोष की कविता का प्रधान गुण है और बौद्ध धर्म की नैतिक शिक्षाओं के प्रसार के लिए जब कि तूलिका और छेनी का आश्रय तो उसके इतिहास में अनेक बार लिया गया है, वीणा के तारों में बुद्ध-जीवन के उदात्त और शमनकारी प्रभाव को झंकृत करने वाले कवि और विचारक के रूप में अश्वघोष का अकेला ही उदाहरण रहेगा। वे बौद्ध धर्म के गायक हैं, लोकोत्तर प्रतिभापूर्ण और अपनी गम्भीर दार्शनिक महिमा में मण्डित।

अयोध्या में जन्म लेकर महाकवि ने अपना जीवन-कार्य प्रायः कश्मीर और गंधार में पूरा किया। महाराज कनिष्क के निमन्त्रण पर वे चतुर्थ बौद्ध संगीति में भाग लेने के लिए साकेत से कश्मीर गये और उनका अधिकांश जीवन यहीं बीता। इस संगीति के वे उप-सभापति बनाये गये जब कि सभापति का पद भदन्त वसुमित्र ने ग्रहण किया। आचार्य अश्वघोष ब्राह्मण कुलीन थे और उन्होंने वैदिक वाङ्मय का विधिवत् अध्ययन किया था, जिसका साक्ष्य उनकी रचनाएं देती हैं। पहले वे बौद्धों को शास्त्रार्थ में परास्त करते हुए भारत के विभिन्न भागों में घूमते थे। पेशावर में उनका पार्श्व नामक बौद्ध भिक्षु से शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें पराजित होकर उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। अश्वघोष को भिक्षु पद की उपसम्पदा इन वृद्ध भिक्षु पार्श्व से ही मिली। पार्श्व गम्भीर विद्वान्, तार्किक और अनेक शास्त्रों के रचयिता थे। यह खेद की बात है कि उनकी कोई रचना आज नहीं मिलती। पार्श्व का जन्म उत्तर-भारत में ब्राह्मण वंश में हुआ था। अस्सी वर्ष की आयु में उन्होंने बौद्ध धर्म में दीक्षा प्राप्त की थी और तीन वर्ष तक, जब तक उन्होंने त्रिपिटक का पूर्ण अनुशीलन नहीं कर लिया, उन्होंने अपनी बगलों या पसलियों (पार्श्व) को चटाई से नहीं छुवाया। इसीलिए इन उत्साही वृद्ध भिक्षु को 'पार्श्व' नाम से पुकारा जाने लगा। यह स्मरणीय है कि इन्ही वृद्ध भिक्षु के परामर्श से कनिष्क ने

चतुर्थ बौद्ध संगीति को बुलवाने का संकल्प किया था। सातवीं शताब्दी में यूआन् चुआङ् ने अपने भारत-भ्रमण के समय पेशावर (पुरुषपुर) में 'कनिष्क महाविहार' के अवशेष देखे थे, जहां आर्य पार्श्व रहा करते थे। यूआन् चुआङ् ने लिखा है कि उनके समय में भी हीनयानी सम्प्रदाय के कुछ भिक्षु वहां रहते थे। थॉमस वाटर्स का अनुमान है कि आज पेशावर नगर में 'घोर खत्री' या 'कारवां सराय' के नाम से प्रसिद्ध जो स्थान है, वह कदाचित् प्राचीन 'कनिष्क महाविहार' ही है[1]। पार्श्व की कोठरी के पूर्व में एक पुराना घर भी यूआन् चुआङ् ने देखा था जहां बैठकर पार्श्व से करीब ३५० वर्ष बाद आर्य वसुबन्धु ने अभिधर्म कोश-शास्त्र (अपि-तो-मो-कु-शि-लुन्) की रचना की थी।[2]

एक चीनी परम्परा पार्श्व को अश्वघोष का गुरु न मानकर उनके शिष्य पुण्ययशस् को अश्वघोष का गुरु मानती है।[3] लामा तारानाथ ने नागार्जुन के शिष्य आर्य देव को अश्वघोष का गुरु बताया है, जो ठीक नहीं जान पड़ता। नागार्जुन का काल अश्वघोष से कम से कम सौ वर्ष बाद है, अतः नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव अश्वघोष के गुरु नहीं हो सकते। यूआन् चुआङ् ने भी नागार्जुन को अश्वघोष का समकालीन माना है, जो इतिहाससम्मत नहीं है। नागार्जुन निश्चयतः अश्वघोष के परवर्ती हैं। कीथ ने अनुमान किया है कि नागार्जुन अश्वघोष के शिष्य थे[4], जिसके मानने के लिए भी कोई निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

अश्वघोष बौद्ध-धर्म के किस रूप के अनुयायी थे, इसके सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद है। जापान में अश्वघोष को अवतंसक सूत्र सम्प्रदाय का प्रथम और ध्यान (जेन्) सम्प्रदाय का बारहवां गुरु माना जाता है। ये दोनों सम्प्रदाय महायान से सम्बन्धित हैं। 'सुखावती'

---

१. औन् यूआन् चुआङ्स् ट्रैविल्स इन इण्डिया, जिल्द पहली, पृष्ठ २०८।
२. वहीं पृष्ठ २१०।
३. वहीं, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०३।
४. देखिये उनकी 'बुद्धिस्ट फिलॉसफी', पृष्ठ २२६।

सम्प्रदाय से भी अश्वघोष का नाम जोड़ा जाता है, जो महायान का ही एक सम्प्रदाय है। अश्वघोष की एक संदिग्ध रचना 'महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' है जिसके आधार पर उन्हें, मुख्यत: जापान में, महायानी आचार्य माना जाता है। इस ग्रन्थ में महायानी सिद्धान्तों के आधार पर विज्ञानवाद और शून्यवाद में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। हम जानते हैं कि शून्यवाद (माध्यमिक मत) के आद्य आचार्य नागार्जुन अश्वघोष से कम से कम एक शताब्दी बाद हुए और विज्ञानवाद के आचार्य असंग और वसुबन्धु का समय अश्वघोष से प्राय: साढ़े तीन सौ वर्ष बाद है। अत: अधिकतर विद्वानों की प्रवृत्ति 'महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' को महाकवि अश्वघोष की रचना मानने की नहीं होती। यह सम्भव है कि इन सम्प्रदायों से सम्बन्धित कुछ सिद्धान्तों का प्रचलन अश्वघोष के युग में भी रहा हो, परन्तु 'महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' में उनके जिस विकसित रूप का परिचय हमें मिलता है, वह अश्वघोष के युग में सम्भव नहीं हो सकता। सौन्दरनन्द (१४।१९,) में 'योगाचार' शब्द का प्रयोग अश्वघोष ने किया है, जिसका अर्थ योगाचार सम्प्रदाय वहां न लेकर सामान्य योगाभ्यास ही लेना चाहिए[1]। पालि तिपिटक में भी 'योगावचर' शब्द का प्रयोग योग के अभ्यासी के लिए किया गया है। 'महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' के रचयिता अश्वघोष महाकवि अश्वघोष से भिन्न व्यक्ति थे, यह मत अनेक विद्वानों ने प्रकट किया है। इस प्रकार दो अश्वघोषों की उद्भावना की गई है। कनिष्क के समकालीन महाकवि अश्वघोष को अश्वघोष प्रथम और 'महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' के रचयिता अश्वघोष को, जिनका काल उनसे काफी बाद माना गया है, अश्वघोष द्वितीय कहकर पुकारा गया है[2]। आचार्य तकाकुसु, विन्टरनित्ज़, राहुल सांकृत्यायन, विमलाचरण

---

१. देखिये विन्टरनित्ज़: हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २६४, पद-संकेत १; दासगुप्त और दे: हिस्ट्री ऑव क्लासीकल संस्कृत लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ७०, पद संकेत २।

२. देखिये र्‌यूकन किमूरा: दि ऑरीजिनल एण्ड डिवैलप्ड डाक्ट्रिन्स ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म, पृष्ठ ३० एवं ६५।

लाहा और नलिनाक्ष दत्त प्रायः इसी मत के मानने वाले हैं। परन्तु 'महायानश्रद्धोत्पाद-शास्त्र' के चीनी रूपान्तर (मूल संस्कृत प्राप्त नहीं है) का अंग्रेजी अनुवाद करने वाले प्रसिद्ध जापानी विद्वान् डॉ० डी०टी० सुजुकी 'महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' को भी महाकवि अश्वघोष की ही रचना मानते हैं। अश्वघोष बौद्ध धर्म के किस रूप के अनुयायी थे, इस का विवेचन करते हुए डा० ई० एच० जांस्टन ने उन्हें महासंघिक या बाहुश्रुतिक सम्प्रदाय का अनुगामी बताया है।[1] डा० सुरेन्द्रनाथ दास-गुप्त और सुशील कुमार दे ने अपने ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑव क्लासीकल संस्कृत लिटरेचर' में उनके इस मत को स्वीकार किया है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने कुछ नये तिब्बती स्रोतों से अनुसन्धान कर अश्व-घोष को सर्वास्तिवादी स्थविर बताया है।[3] जैसा हम पहले कह चुके हैं, कनिष्क ने सर्वास्तिवादी आचार्यों की जो संगीति बुलाई थी, उसके उप-सभापति अश्वघोष थे। अतः अश्वघोष को सर्वास्तिवादी स्थविर मानना ही अधिक समीचीन जान पड़ता है। हां, इसमें सन्देह नहीं कि महायानी प्रवृत्तियां सर्व प्रथम हमें उनकी रचनाओं में मिलती हैं। बुद्ध-भक्ति, जो महायान की एक बड़ी विशेषता है, हमें सर्व प्रथम अश्वघोष की रचनाओं में मिलती है। वस्तुतः तथोक्त हीनयान और महायान में आधारभूत विभिन्नताएं हैं ही नहीं, उन दोनों के आधार बुद्ध के जीवन और उपदेश ही हैं। बुद्ध-जीवन दोनों की प्रतिष्ठा है। एक ही व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक अवस्थाओं और आवश्यकताओं के अनुरूप हीनयानी और महायानी हो सकता है। अश्वघोष के सम्बन्ध में यूआन् चुआङ् ने लिखा है कि वे एक बहुश्रु विद्वान् थे और उनके ज्ञान की पहुंच श्रावक-यान, प्रत्येक-बुद्ध-यान और बोधिसत्व-यान (महायान), इन तीनों यानों तक थी[4]। बौद्ध धर्म की अनेक व्याख्याओं के साथ आर्य अश्वघोष

---

१. देखिये उनके द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित बुद्ध-चरित, भाग द्वितीय, ३१ (भूमिका)
२. जिल्द पहली, पृष्ठ ६६।
३. दर्शन-दिग्दर्शन पृष्ठ ५६६।
४. थॉमस वाटर्स : ऑन् यूआन् चुआङ्स् ट्रेविल्स इन इण्डिया, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०२।

की सहानुभूति थी। वे एव उदार विद्वान् भिक्षु थे। यही कारण है कि तथोक्त हीनयानी और महायानी दोनों प्रकार की प्रवृतियां उनके काव्य में मिलती हैं।

महाकवि अश्वघोष की प्रामाणिकतम तीन रचनाएं हैं, बुद्ध-चरित, सौन्दरनन्द और शारिपुत्र-प्रकरण। बुद्ध-चरित एक महाकाव्य है। इसमें भगवान् बुद्ध की जीवनी और उनके उपदेश वर्णित हैं। यह ग्रन्थ अपने मौलिक रूप में २८ सर्गों में था। इ-त्सिङ् ने लिखा है उनके भारत भ्रमण के समय (सातवीं शताब्दी) इस ग्रन्थ का पाठ भारतवर्ष के पांचों भागों और सुमात्रा, जावा और उनके पास के द्वीपों में होता था। सन् ४१४ और ४२१ के बीच इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद धर्म-रक्ष ने किया और सातवीं या आठवीं शताब्दी में मूल संस्कृत से इस ग्रंथ का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया गया। यह अत्यन्त खेद की बात है कि 'बुद्ध-चरित' का पूर्ण संस्कृत संस्करण अभी हमें नहीं मिलता। जो रूप हमें प्राप्त हैं, उसमें १७ सर्ग हैं और उनमें भी केवल प्रथम १३ ही पूर्ण प्रामाणिक माने जा सकते हैं। 'सौन्दरनन्द' काव्य में १८ सर्गों में भगवान् बुद्ध के मौसेरे भाई नन्द की प्रव्रज्या का वर्णन है। 'शारिपुत्र-प्रकरण', जो नौ अंकों की एक नाटकीय रचना है, शारि-पुत्र और मौद्गल्यायन की प्रव्रज्या से सम्बन्धित है। इन तीन ग्रन्थों के अलावा 'महायान-श्रद्धोत्पाद शास्त्र' का निर्देश हम पहले कर चुके हैं। 'वज्रसूची', जिसमें वज्र की सुई की तरह तीक्ष्ण दृष्टि से वर्ण-भेद की समालोचना की गई है, अश्वघोष की रचना बताई जाती है, परन्तु अश्व-घोष की सी शैली इस ग्रन्थ में नहीं मिलती। वेद और मनु-संहिता से अनेक उद्धरण यहां दिये गये हैं, जिनसे लेखक के व्यापक वैदिक ज्ञान का पता लगता है। 'वज्रसूची' को अश्वघोष की रचना न मान सकने का सबसे बड़ा कारण यही है कि इ-त्सिङ् ने अश्वघोष-रचित ग्रन्थों की सूची में इसका उल्लेख नहीं किया है और न तिब्बती 'तंग्यूर' में ही इसे अश्व-घोष की रचना बताया गया है। 'वज्रसूची' का चीनी अनुवाद सन् ९७३ और ९८१ के बीच किया गया और वहां इस रचना को धर्मकीर्ति नामक व्यक्ति की कृति बताया गया है। 'गण्डीस्तोत्रगाथा' २९ स्रग्धरा

छन्दों में लिखी हुई एक गेय रचना है। विषय और शैली दोनों दृष्टियों से विन्टरनित्ज़ ने इसे अश्वघोष के अनुरूप रचना माना है[1], किन्तु जांन्स्टन ने इसके अश्वघोष-कृत होने में सन्देह प्रकट किया है[2]। 'सूत्रालंकार' नामक एक अन्य रचना, जिसका सन् ४०५ ई० में कुमारजीव ने चीनी भाषा में अनुवाद किया, अश्वघोष-कृत बताई जाती है। परन्तु वस्तुतः यह कुमारलात या कुमारलब्ध की रचना है, जो तक्षशिला के निवासी और सौत्रान्तिक मत के संस्थापक आचार्य थे। 'शारिपुत्र-प्रकरण' के अलावा दो अन्य नाटकीय रचनाएं भी अश्वघोष-कृत बताई जाती हैं। ये दोनों रचनाएं 'शारिपुत्र-प्रकरण' के साथ एक ही पाण्डुलिपि में मध्य एशिया (सिक्यांग) के तुर्फान प्रान्त में मिली थीं। इनमें से एक अन्योक्ति के ढंग की नाटकीय रचना है, जिसमें बुद्धि, कीर्ति और धृति जैसे पात्र हैं और दूसरी प्रहसन के रूप में है जिसमें विदूषक भी एक पात्र के रूप में चित्रित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अश्वघोष की नाटकीय रचनाएं संस्कृत साहित्य में प्राचीनतम हैं।

अश्वघोष के ग्रंथों से पता लगता है कि वैदिक ज्ञान के अक्षय भाण्डार का निवास उनके हृदय में था। वैदिक और पौराणिक इतिहास का जितना व्यापक परिचय अश्वघोष ने दिया है, उतना राष्ट्रकवि कालिदास के विषय में भी नहीं कहा जा सकता। कालिदास की रचना चातुर्वर्ण्य की पृष्ठभूमि पर आधारित है। अश्वघोष ने अपनी काव्य-साधना को बौद्ध-धर्म की उदार विश्वजनीनता और नैतिक गम्भीरता का वाहक बनाया है। कवि रूप में कालिदास ने अश्वघोष से बहुत कुछ पाया है, इसकी समीक्षा अनेक पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वान् कर चुके हैं। कालिदास की लोकोत्तर प्रणय-भावना, उनके सौन्दर्यातिशय मानव-जीवन के चित्र, उनका सूक्ष्म प्रकृति-दर्शन और प्राकृतिक और मानवीय सौन्दर्य के प्रति उनकी उल्लास-भावना, इस सबमें अश्वघोष उनकी तुलना नहीं कर

---

१. हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी पृष्ठ २६६।

२. देखिये दासगुप्त और दे : हिस्ट्री ऑव क्लासीकल संस्कृत लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ७१, पद-संकेत ४।

सकते। कवि-कर्म की कुशलता में कालिदास अवश्य अश्वघोष से बढ़कर हैं, यद्यपि कला-पक्ष निर्बल अश्वघोष का भी नहीं है और कालिदास के समान महाकाव्य (बुद्ध-चरित), खण्ड काव्य (सौदरनन्द), नाटक (शारिपुत्र-प्रकरण) और गीतिकाव्य (गण्डीस्तोत्रगाथा) जैसी विविध काव्य-शैलियों पर उनका पूर्ण अधिकार है। परन्तु कालिदास की तुलना में सबसे बड़ी बात जो हमें अश्वघोष में मिलती है, वह है उनका विचारक का रूप। कवि होने के साथ-साथ अश्वघोष विचारक हैं, जीवन के गम्भीर दार्शनिक हैं, एवं साधना के शिक्षक भी। यह बात उतनी हद तक हमें कालिदास में नहीं मिलती। कालिदास प्रेम और सौन्दर्य के, वैभव और विलास के, कवि हैं। उनकी लेखनी ने नारियों का शृंगार किया है परन्तु जीवन में व्याप्त दुःख को उन्होंने कहां देखा है? उनके काव्य में जीवन का गम्भीर पक्ष कहां है? कालिदास की कविता मुख्यतः शृंगारात्मक है, जब कि अश्वघोष ने साफ तौर पर कहा है कि "मनुष्यों के हित और सुख के लिए यह यह काव्य (बुद्ध-चरित) लिखा गया है, न कि विद्वत्ता या काव्य-कौशल दिखाने लिए।[1]" इसी प्रकार उन्होंने सौन्दरनन्द-काव्य के अन्त में कहा है, "यह कृति आध्यात्मिक शान्ति के लिए है न कि मनोरंजन के लिए। काव्य-धर्म के अनुरोध से जो कुछ सरस भी मैंने यहां कहा है, वह केवल कटु औषध को पीने के योग्य बनाने के लिए मधु मिलाने के समान है।"[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि-कर्म का जो लक्ष्य अश्वघोष के सामने था, वह मानव के कल्याण का साधक था और स्वभावतः उसमें आध्यात्मिक प्रभाव की अधिक अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु एक विशेष बात जिस पर हम यहां लक्ष्य करना चाहते हैं, वह है महाकवि अश्वघोष द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृति और आदर्शों का चित्रण। बौद्धकवि ने बुद्ध और बौद्धधर्म को उनकी प्रकृत ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि से अलग करके नहीं देखा है। सम्पूर्ण बुद्ध-पूर्व इतिहास की भूमिका को लेकर उसने

---

१. बुद्ध-चरित २८।७४।
२. सौन्दरनन्द १८।६३।

बुद्ध के जीवन और उनके उपदेशों को समझने का प्रयत्न किया है। अतः स्वभावतः भगवान् बुद्ध के जीवन-प्रसंग में आने वाले अनेक तथ्यों और घटनाओं को उसने पूर्व इतिहास के समान तथ्यों और घटनाओं से मिलाया है और इस प्रकार बिलकुल प्रासंगिक रूप से उसने इतनी विशाल सामग्री प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में हमें दी है, जो अपनी परिधि की विशालता और व्यापकता में अद्वितीय है।

अश्वघोष 'साकेतक' थे, अतः साकेतवासी राम से और उनकी कथा के गायक वाल्मीकि से उनका स्वाभाविक ममत्व था। महर्षि वाल्मीकि को उन्होंने 'धीमान्' कहा है और उनका आदि कवि होना स्वीकार किया है। कपिल गौतम द्वारा इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारों के पालन-पोषण के प्रसंग में उन्हें बरबस वाल्मीकि द्वारा मैथिली के पुत्रों के पालन-पोषण की याद आ जाती है—

स तेषां गौतमश्चक्रे स्ववंशसदृशीः क्रियाः।
वाल्मीकिरिव धीमांश्च धीमतोर्मैथिलेययोः॥[1]

महाकवि अश्वघोष ने ही हमें यह महत्त्वपूर्ण सूचना दी है कि महर्षि वाल्मीकि से पूर्व ऋषि च्यवन ने भी आदि काव्य लिखने की चेष्टा की थी, जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। बाद में उनके परवर्ती ऋषि वाल्मीकि ने यह कार्य किया—

वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं
जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः।[2]

राम-कथा के अनेक मार्मिक प्रसंगों की स्मृति अयोध्यावासी बौद्ध कवि को बुद्ध-जीवनी के वर्णन करने के समय हुई है। पुत्र-वियोग से सन्तप्त शुद्धोदन बिल्कुल राजा दशरथ की तरह चित्रित किये गये हैं। पुत्र-वियोग से दुःखी राजा शुद्धोदन धरती के सदृश अपनी सहज धीरता को छोड़कर विलाप करता हुआ मूर्च्छित हो गया, जैसे राम के शोक में ग्रसित दशरथ—

---

१. सौन्दरनन्द १।२५-२६।

२. बुद्ध-चरित १।४३; महाभारत के शान्ति-पर्व के अनुसार भी राम-कथा के प्रथम

इति तनयवियोगजातदुःखः
क्षितिसदृशं सहजं विहाय धैर्यम् ।
दशरथ इव रामशोकवश्यो
बहु विललाप नृपो विसंज्ञकल्पः ॥[1]

वह कहने लगा 'राजा अज के बुद्धमान् पुत्र, इन्द्र के सखा, राजा (दशरथ) से मुझे ईर्ष्या है, जो पुत्र के वन चले जाने पर स्वर्ग चले गये, व्यर्थ आंसू बहाते हुए दीनतापूर्वक जीवित नहीं रहे —

अजस्य राज्ञस्तनयाय धीमते
नराधिपायेन्द्रसखाय मे स्पृहा ।
गते वनं यस्तनये दिवं गतो
न मोघवाष्पः कृपणं जिजीव ह ॥[2]

राम की कथा में एक अत्यन्त मार्मिक प्रसंग राम को वन में पहुंचा कर सुमन्त्र का खाली रथ लेकर अयोध्या को लौटना है । कैसे सम्भव था कि सिद्धार्थ का सारथी छन्दक अपने स्वामी के द्वारा यह कहे जाने पर कि 'घोड़े को लेकर लौट जाओ, मैं इच्छित स्थान पर पहुंच गया हूं' अपनी तुलना हतभाग्य सुमन्त्र से न करता ? स्वामिभक्ति के पूर्ण अधिकार के साथ उसने उत्तर दिया, "तुमको वन में छोड़कर, जैसे सुमन्त्र ने राघव को छोड़ा, मैं जलते हुए चित्त से नगर को नहीं जा सकता ।[3]" परन्तु सुमन्त्र के समान छन्दक को भी जाना ही पड़ा । कन्थक की पीठ सिद्धार्थ से खाली, उसी प्रकार जैसे सुमन्त्र का रथ राम से खाली ! शाक्य-कुल-ऋषभ के बिना ही सारथी (छन्दक) और अश्व (कन्थक) दोनों आये हैं, यह सुनकर नगर की जनता ने मार्ग में उसी प्रकार आंसू बहाये, जैसे प्राचीन काल में राम का रथ वन से खाली

गायक भृगु के पुत्र च्यवन ऋषि थे । "श्लोकस्यायं पुरा गीतो भार्गवेन महात्मना ।"

१. बुद्ध-चरित ८।८१ ।

२. बुद्ध-चरित ८।७९ ।

३. नास्मि यातुं पुरं शक्तो दह्यमानेन चेतसा ।
त्वामरण्ये परित्यज्य सुमन्त्र इव राघवम् ॥ बुद्ध-चरित ६।३६

लौट आने पर —

मुमोच वाष्पं पथि नागरो जनः
पुरा रथे दाशरथेरिवागते ।[१]

शुद्धोदन ने अपने मन्त्री और पुरोहित को सिद्धार्थ को खोज लाने के लिए भेजा। उन दोनों ने कुमार सिद्धार्थ को वन में एक वृक्ष के नीचे बैठे देखा। उस समय के दृश्य का वर्णन करते हुए महाकवि ने कहा है, "तब रथ छोड़ कर मंत्री के सहित पुरोहित उसके पास गया, जैसे वन में स्थित राम के समीप वामदेव के साथ दर्शनाभिलाषी और्वशेय मुनि (वसिष्ठ) गये थे।[२]" शुद्धोदन के पुरोहित ने कुमार सिद्धार्थ को घर चलने के लिए आग्रह करते हुए राम की पितृ-भक्ति की याद दिलाई। "राम ने पिता के प्रिय के लिये कार्य किया, तुम्हें भी पिता का इष्ट करना चाहिये।[३]" लिच्छवियों को उपदेश देते हुए भगवान् तथागत ने अन्य महापुरुषों के नाम लेते हुए राम के संबंध में भी कहा था कि वे भी मृत्यु को प्राप्त हुए।[४] मुनि वसिष्ठ के सम्बन्ध में भी अश्वघोष ने बहुत कुछ कहा है। उन्होंने हमें बताया है कि व्यास से पूर्व वसिष्ठ ने वेदों के विभाजन का प्रयत्न किया था, जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।[५] ऋषि असित का सत्कार करने के बाद राजा शुद्धोदन उनसे निवेदन करते इस प्रकार दिखाये गये हैं, जैसे प्राचीन काल में राजा अन्तिदेव वसिष्ठ से।[६] सांकृति अन्तिदेव ने मुनि वसिष्ठ से राज्यलक्ष्मी प्राप्त की थी, ऐसा भी साक्ष्य उन्होंने दिया है।[७] वसिष्ठ और अत्रि ऊर्ध्वरेता ऋषि कहे गये हैं।[८] शाक्यों के

---

१. बुद्ध-चरित ८।८
२. बुद्ध-चरित ९।९
३. बुद्ध-चरित ९।२५
४. बुद्ध-चरित २४।४०
५. बुद्ध-चरित १।४२; मिलाइये सौन्दरनन्द ७।२९-३१ भी
६. बुद्ध-चरित १।५२
७. बुद्ध-चरित ९।७०
८. बुद्ध-चरित २४।३८

पूर्व पुरुष कपिल गौतम ऋषि की तुलना वसिष्ठ से करते हुए अश्वघोष ने कहा है कि "अपने हविष्य के लिये उन्होंने वसिष्ठ के समान गौ को दुहा और तपस्वी शिष्यों के बीच वसिष्ठ के समान अपनी वाणी को दुहा।"[१] अश्वघोष ने वसिष्ठ के संबंध में यह भी कहा है कि कामुकता के वशीभूत होकर उन्होंने एक चाण्डाली से रमण किया था। बुद्ध-चरित में उन्होंने कहा है, "रमण करने की इच्छा से वसिष्ठ मुनि ने निन्दित चाण्डाल जाति की कन्या अक्षमाला में कपिञ्जलाद नामक पुत्र को उत्पन्न किया।"[२] इसी बात को उन्होंने सौन्दरनन्द में भी दुहराया है।[3] महर्षि गाधि-पुत्र विश्वामित्र की ब्राह्मणत्व-प्राप्ति का भी उल्लेख अश्वघोष ने किया है। "जिस द्विजत्व को कुशिक (विश्वामित्र के पितामह) ने नहीं पाया, उसे गाधि-पुत्र (विश्वामित्र) ने प्राप्त किया"[४] घृताची नामक अप्सरा के द्वारा उनके तपोभंग का उल्लेख करते हुए महाकवि कहते हैं "महा तपस्या में अवगाहन करने पर भी महर्षि विश्वामित्र घृताची अप्सरा के द्वारा हरण किया गया और उस महर्षि ने उसके साथ विताये गये दस वर्षों को एक दिन माना!"[५] विश्वामित्र ने राजा त्रिशंकु से यज्ञ करवाया था, यह कथा पुराणों में प्रसिद्ध है। श्रावस्ती के उपवन में ठहरे हुए भगवान् तथागत के पास जाकर कोशलराज प्रसेनजित् प्रसन्नता प्रकट कर रहा है, "एक साधु पुरुष, जो इस लोक व परलोक के ईश्वर हैं, इसमें ठहरे हुए हैं, इसीलिए मेरा उपवन देखने में वैसा ही गौरवमय है, जैसा कि त्रिशंकु का महल था जिसमें महर्षि गाधि-पुत्र (विश्वामित्र) का स्वागत हुआ था।"[६] मुनि ऋष्यश्रृंग, जो स्त्रियों के विषय में अज्ञानी थे, किस प्रकार विविध उपायों से शान्ता के द्वारा पकड़ कर ले जाए गए, इस

---

१. सौन्दरनन्द १।३

२. बुद्ध-चरित ४।७७

३. सौन्दरनन्द ७।२८

४ यच्च द्विजत्वं कुशिको न लेभे तद्‌गाधिनः सूनुरवाप राजन्। बुद्ध-चरित १।४४

५. बुद्ध-चरित ४।२०

६. बुद्ध-चरित २०।८

का उल्लेख भी महाकवि ने किया है।[1] महाभारत की कथा के अनेक प्रसंगों और पात्रों का उल्लेख अश्वघोष ने किया है। महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास भी काम-पीड़ित हुए, इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है, "प्राचीन काल में काशि-सुन्दरी नामक वेश्या ने महर्षि व्यास को, जो देवताओं के लिए भी दुर्धर्ष थे, पांव से मारा।"[2] कृष्ण द्वारा कंस की हत्या और अश्वराज (केशी) के मुख को विदीर्ण करने का उल्लेख भी किया गया है।[3] इसी प्रकार शिशुपाल और चेदियों ने अहंकारवश कृष्ण से युद्ध किया था, इसका भी उल्लेख है।[4] कौरवों की पराजय और युद्ध में भस्मसात् होने का उल्लेख भी महाकवि ने किया है।[5] मोर की सुन्दरता का वर्णन करते हुए बौद्ध कवि ने उसकी उपमा लम्बी और मोटी भुजाओं वाले बलराम के वैदूर्य मणि से बने बाजूबन्द से दी है।[6] परशुराम द्वारा कार्तवीर्य अर्जुन की सहस्र भुजाओं के काटने का उल्लेख महाकवि ने किया है[7] और उनके द्वारा क्षत्रिय-विनाश की कथा का स्मरण करते हुए कहा है, "भृगु के पुत्र उस क्रोधी मुनि ने क्षत्रियों को उन्मूलित करने के लिए शस्त्र ग्रहण किया।"[8]

इसी प्रकार जनमेजय की काम-वासना का उल्लेख है।[9] माद्री (पाण्डु की पत्नी) का उल्लेख है।[10] गंगा के पुत्र भीष्म का वर्णन

---

१. बुद्ध-चरित ४।१९
२. बुद्ध-चरित ४।१६
३. सौन्दरनन्द ९।१८
४. बुद्ध-चरित २८।२८
५. सौन्दरनन्द ९।२०
६. सौन्दरनन्द १०।८
७. सौन्दरनन्द ९।१७
८. बुद्ध-चरित २८।३०
९. सौन्दरनन्द ७।४४
१०. बुद्ध-चरित ४।७९

है [1], ययाति के विख्यात पुत्रों का उल्लेख है [2], ययाति और भूरिद्युम्न जैसे राजर्षियों की स्वर्ग-प्राप्ति और फिर स्वर्ग से च्युत होने की कथा है [3], नहुष-पुत्र ययाति के सुराज्य का वर्णन [4], और विश्वाची अप्सरा के साथ उसके रमण की कथा है। [5] इसी प्रकार राजा नहुष के अनेक कृत्यों का उल्लेख है [6], विदेहराज के राज्य के सूने होने का वर्णन है [7], राजा मान्धाता को अनेक बार स्मरण किया गया है [8], राजा पृथु की कथा है [9], देवों से युद्ध करने वाले नमुचि दैत्य का उल्लेख है [10], कुबेर के पुत्र नलकूबर [11], और शिव के पुत्र कार्तिकेय [12], के उल्लेख हैं। सिद्धार्थ के जन्म से शुद्धोदन इस प्रकार प्रसन्न हुआ, 'जैसे कार्तिकेय के जन्म से शिव। ....कपिल का वह नगर जनपद के साथ इस प्रकार प्रमुदित हुआ, जैसा नलकूबर के जन्म पर अप्सराओं से भरा कुबेर का नगर।" पूर्व परम्पराओं की स्मृति दिलाता हुआ कुमार के जन्म का कितना सुन्दर वर्णन है !

ऊपर हमने पुराण-इतिहास सम्बन्धी पात्रों और घटनाओं का उल्लेख किया है, जिनका उपयोग अश्वघोष ने बुद्ध-जीवन के कथा-प्रसंग में किया है। इनकी संख्या इतनी अधिक है कि उनका पूरा निर्देश यहां नहीं किया जा सकता। उनको लेने में बौद्ध कवि का

---

१. बुद्ध-चरित ९।२५; ११।१८
२. सौन्दरनन्द १।५९
३. सौन्दरनन्द ११।४६
४. बुद्ध-चरित २।११
५. बुद्ध-चरित ४।७८
६. बुद्ध-चरित २।११; ११।१४; ११।१६; २५।१२
७. बुद्ध-चरित १३।५
८. बुद्ध-चरित १।१०; १०।३१; ११।१३; २१।१०; २४।३९
९. बुद्ध-चरित १।१०
१०. सौन्दरनन्द ९।१९
११. बुद्ध-चरित १।८९
१२. बुद्ध-चरित १।८८

क्या उद्देश्य था, यह हमें समझ लेना चाहिए। न तो बौद्ध कवि-दार्शनिक को अपनी बहुज्ञता दिखाने से प्रयोजन था और न प्राचीन पात्रों और आख्यानों को उसने उनकी समालोचना करने के लिए लिया है। उसकी उचित सहानुभूति प्राचीन परम्पराओं और पात्रों के साथ है और बुद्ध-कथा में उनका अवतरण केवल इसलिए किया गया है कि सम्पूर्ण प्राग्बुद्धकालीन भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिक आदर्शों की पृष्ठभूमि में रखकर बुद्ध-जीवन को समझने की कवि की इच्छा है। उनके द्वारा चित्रित शुद्धोदन को हम आसानी से 'सनातनी' क्षत्रिय राजा कह सकते हैं। "उस स्थायी लक्ष्मी वाले राजा ने पुत्र के जीवन के लिये स्वयम्भू की पूजा की, जप किया और आदि युग में प्रजा सृजन करने की इच्छा वाले स्रष्टा के समान दुष्कर कर्म किये"।[1] "उसने विविध प्रकार का धर्म किया, सज्जन जिसका पालन करते हैं और जो श्रुति से सिद्ध है।" "एवं स धर्मं विविधं चकार सद्भिर्निपातं श्रुतितश्च सिद्धम्"।[2] यज्ञ भी किये और ब्राह्मण-सेवा भी। "उसकी आयु के लिये उसने उज्ज्वल ग्रह-मण्डल की, जिसका अधिपति बृहस्पति है, यथोचित पूजा की, विशाल अग्नि में हवन किया तथा ब्राह्मणों को सोना और गायें दीं ....वेदविहित सोम-रस पिया"।[3] जब सिद्धार्थ घर छोड़कर वन चले गये तो भी राजा ने देव-मन्दिर में जाकर स्वयं जप किया और दूसरों से करवाया और मङ्गलमय हवन-कर्म किये।[4] असित ऋषि, जो सिद्धार्थ के जन्म पर नवजात शिशु को देखने आये थे 'ब्रह्मविद्' ऋषि कहे गये हैं। "ब्राह्म तेज और तपः श्री से जलते हुए उस श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी को राज-गुरु ने गौरव और सत्कार के साथ राज-भवन में प्रवेश कराया।"[5] कपिलवस्तु की स्थापना के समय शाक्यों ने "वेद-वेदांगों

१. बुद्ध-चरित २।५१
२. बुद्ध-चरित २।५४
३. बुद्ध-चरित २।३६-३७; मिलाइये सौन्दरनन्द २।४४
४. बुद्ध-चरित ८।१५;८।७२
५. बुद्ध-चरित १।५०

को जानने वाले तथा छह कर्मों में रत रहने वाले ब्राह्मणों से अपनी शान्ति और वृद्धि के लिए वहां जप करवाया''।[1] अराड मोक्षवादी ऋषि थे[2] और स्वयं शुद्धोदन ने परम ब्रह्म (वेद) का अध्ययन किया था।[3] इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

महाकवि अश्वघोष का प्राचीन पुराणेतिहास-सम्बन्धी ज्ञान इतना विस्तृत था कि किसी एक प्रसंग या परिस्थिति के वर्णन में वे धड़ाधड़ सम्पूर्ण प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा को ही उद्धृत करते चले गये हैं। दृष्टान्तों की मालाएं एक के वाद एक आती जाती हैं, जिनसे उनके प्रभूत ऐतिहासिक और पौराणिक ज्ञान का परिचय मिलता है। उदाहरणतः देखिए सिद्धार्थ के जन्म पर जब ब्राह्मणों के यह कहने पर कि यह बालक पूर्व के ऋषियों के द्वारा अप्राप्त सत्य को प्राप्त करेगा शुद्धोदन ने यह शंका की कि जिसे पूर्व के महात्मा प्राप्त नहीं कर सके उसे यह बालक किस प्रकार प्राप्त करेगा, तो ब्राह्मणों ने उसे इन पूर्वकालीन दृष्टान्तों से आश्वस्त किया—

"हे सौम्य ! वंश चलानेवाले भृगु और अंगिरा नामक ऋषियों ने जिस राज-शास्त्र को नहीं वनाया, उसे उनके पुत्र शुक्र और बृहस्पति ने समय बीतने पर सृजन किया।

'(सरस्वती के पुत्र) सारस्वत ने नष्ट हुए वेद को कहा, जिसे पूर्व के लोगों ने नहीं देखा; व्यास ने इसे कई भागों में किया, जिसे शक्ति-हीन वसिष्ठ नहीं कर सके थे।

"आदि काल में वाल्मीकि ने पद्य सृजन किया, जिसे महर्षि च्यवन नहीं कर सके थे, और जिस चिकित्सा-शास्त्र को अत्रि ने सृजन नहीं किया, उसे बाद में आत्रेय ऋषि ने कहा।

"हे राजन् ! जिस द्विजत्व को कुशिक ने नहीं पाया, उसे गाधि-

---

१. सौन्दरनन्द १।४४।

२. सौन्दरनन्द ३।३; मिलाइये बुद्ध-चरित ७।५४

३. अध्यैष्ट यः परं ब्रह्म। सौन्दरनन्द २।१२; वेदश्चाम्नायि सततं वेदोक्तो धर्म एव च। वहीं २।४४

पुत्र (विश्वामित्र) ने प्राप्त किया, और सगर ने सागर की वेला निश्चित की, जिसे प्रथम इक्ष्वाकु नहीं बांध सके थे।

"योग-विधि में द्विजों के आचार्य होने का जो पद दूसरों को प्राप्त नहीं हुआ, उसे जनक ने पाया। शौरि ने जो विख्यात कार्य किये, उन्हें करने में सूर आदि असमर्थ हो चुके थे।

"इसलिए न अवस्था प्रमाण है और न वंश। संसार में कोई भी कहीं भी श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है, क्योंकि राजाओं और ऋषियों के पुत्रों ने वे काम किये हैं, जिन्हें उनके पूर्वज नहीं कर सके थे।"[1] कितनी महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक इतिहास की सामग्री इन दृष्टान्तों में भरी पड़ी है, बताने की आवश्यकता नहीं।

स्त्रियों की ओर से सिद्धार्थ उदासीन थे। पुरोहित-पुत्र उदायी स्त्रियों को झिड़कता हुआ कह रहा है कि वे क्यों नहीं सिद्धार्थ को विमोहित करने में सफल होतीं? 'तुम लोग वीतराग ऋषियों को भी चलायमान कर सकती हो और देवों को भी आकृष्ट कर सकती हो। यद्यपि यह धीर बड़ा ही श्रीमान् और प्रभाववान् हो सकता है, परन्तु स्त्रियों का भी तेज महान् है। स्त्रियों के तेज के उदाहरण देते हुए कहता है—

"प्राचीन काल में काशि-सुन्दरी नामक वेश्या ने महर्षि व्यास को, जो देवताओं के लिए भी दुर्धर्ष थे, पांव से मारा।

"पूर्व काल में जङ्घा नामक वेश्या से सम्भोग करने की इच्छा से और उसे प्रसन्न करने की इच्छा से, मन्थाल गौतम ने उसके धन के लिए लाशों को ढोया।

"दीर्घतपस् नामक महर्षि को, जो दीर्घकाल तक जीवन धारण कर चुका था, नीच वर्ण व स्थिति की स्त्री ने सन्तुष्ट किया।

"उसी प्रकार मुनि-तनय ऋष्यश्रृंग को, जो स्त्रियों के विषय में अज्ञानी था, शान्ता विविध उपायों से पकड़ कर ले गई।

"महा तपस्या में अवगाहन करने पर भी महर्षि विश्वामित्र घृताची अप्सरा के द्वारा हरण किये गये और उन महर्षि ने उसके साथ बिताये

---

१. बुद्ध-चरित १।४१-४६

दस वर्षों को एक दिन माना।

"इस प्रकार उन-उन आद्य ऋषियों को स्त्रियों ने विकृत किया। फिर राजा के सुन्दर और तरुण पुत्र का क्या कहना [1]?" जब स्त्रियां प्रयत्न करने पर भी सिद्धार्थ को विमोहित नहीं कर पातीं, तो उदायी अपने मित्र सिद्धार्थ को समझाता है कि विषयों का तिरस्कार करना अच्छा नहीं। उसके ऐतिहासिक उद्धरणों की समृद्धि को देखिये—

"प्राचीन काल में काम को श्रेष्ठ जानकर इन्द्रदेव ने गौतम मुनि की पत्नी अहल्या को चाहा।

"अगस्त्य ऋषि ने सोम की भार्या रोहिणी के लिये प्रार्थना की। इस कारण उसने उसी रोहिणी के सदृश लोपामुद्रा पाई, ऐसी अनुश्रुति है।

"उतथ्य की भार्या, मरुत की पुत्री ममता में, महा तपस्वी बृहस्पति ने भरद्वाज को उत्पन्न किया।

"हवन करने वाली बृहस्पति की पत्नी में, हवन करने वालों में श्रेष्ठ चन्द्रमा ने, बुध को उत्पन्न किया, जिसके कर्म देवताओं के से थे।

"पूर्व काल में काम-वासना उत्पन्न होने पर पराशर ऋषि यमुना-तट पर मछली से उत्पन्न हुई कन्या काली के पास गये।

'रमण करने की इच्छा से वसिष्ठ मुनि ने निन्दित चाण्डाल जाति की कन्या अक्षमाला में कपिञ्जलाद नामक पुत्र उत्पन्न किया।

"उम्र ढलने पर भी राजर्षि ययाति ने विश्वाची अप्सरा के साथ चैत्ररथ वन में रमण किया।

"स्त्री-संसर्ग को विनाशकारी जानकर भी कुरुवंशी पाण्डु ने माद्री के रूप-गुण से आकृष्ट होकर कामज सुख का सेवन किया।

"कराल जनक ने ब्राह्मण-कन्या का हरण किया और इस प्रकार भ्रष्ट होकर भी वह काम में आसक्त ही रहा।

"इस प्रकार आद्य महात्माओं ने रति के हेतु निन्दित विषयों का

---

१. बुद्ध-चरित ४।१६-२१

भी उपभोग किया, निर्दोष विषयों का तो कहना क्या ?"[1]

शुद्धोदन के मन्त्री और पुरोहित वन में जाकर सिद्धार्थ को समझाते हैं। पहले उनके पारस्परिक स्वागत-समारोह का वर्णन सुनिये :

"उन दोनों ने उसकी उचित पूजा की जैसी स्वर्ग में शुक्र और आङ्गिरस (बृहस्पति) ने इन्द्र की, और उसने उन दोनों की उचित पूजा की जैसे स्वर्ग में इन्द्र ने शुक्र और आङ्गिरस की।'[2] मन्त्री और पुरोहित समझाने लगे :—

"धर्म केवल वन में ही सिद्ध नहीं होता, नगर में भी यतियों की सिद्धि नियत है। पहले वसुधा के आधिपत्य का भोग करो, फिर शास्त्र-सम्मत समय पर वन जाना। मुकुट धारण करने वाले राजाओं ने, जिनके कन्धों से हार लटकते थे और जिनकी भुजाएं केयूरों से बंधी थीं, गृहस्थ होकर भी, लक्ष्मी की गोद में लोटते हुए भी, मोक्ष-धर्म प्राप्त किया।

"ध्रुव के दो छोटे भाई बलि और वज्रबाहु, वैभ्राज, आषाढ़ और अन्तिदेव, विदेहराज जनक, द्रुम और सेनजित् राजा-गण, ये सब गृहस्थ राजा परम कल्याणकारी धर्म-विधि में शिक्षित थे। इसलिए एक ही साथ ज्ञान के आधिपत्य व राज्यलक्ष्मी, दोनों का सेवन करो।"[3]

"गंगा के उदर से उत्पन्न भीष्म ने, राम (दाशरथि) ने, भार्गव राम (परशुराम) ने, पिता के प्रिय के लिए जो काम किया, यह सुनकर तुम्हें भी पिता का इष्ट करना चाहिए।"[4]

पूर्व में भी लोग वन से अपने घर गये हैं, इसके सम्बन्ध में उदाहरण देता हुआ मन्त्री सिद्धार्थ से कहता है—

"तपोवन में रहने पर भी राजा अम्बरीष प्रजाओं से घिर कर नगर को गया। उसी प्रकार अनार्यों से सताई गई पृथ्वी की रक्षा राम ने वन से आकर की।

---

१. बुद्ध-चरित ४।७२-८१

२. बुद्ध-चरित ९।१०

३. बुद्ध-चरित ९।२०-२१

४. बुद्ध-चरित ९।२५

"उसी प्रकार द्रुम नामक शाल्वराज ने पुत्र के साथ वन से नगर में प्रवेश किया और ब्रह्मर्षिभूत सांकृति अन्तिदेव ने मुनि वसिष्ठ से राज्यलक्ष्मी ग्रहण की ।"[1]

विषयों में तृप्ति नहीं है, इसके सम्बन्ध में तपस्वी शाक्यकुमार राजा बिम्बिसार से कहते हैं—

"देव द्वारा सुवर्ण-वृष्टि किये जाने पर भी, चारों समग्र द्वीपों को जीतकर भी और इन्द्र का आधा आसन पाकर भी, मान्धाता को विषयों में तृप्ति नहीं हुई ।

"वृत्र के भय से इन्द्र के छिपने पर, स्वर्ग में देवताओं का राज्य भोगकर भी, दर्प से महर्षियों द्वारा अपने यान को वहन करवा कर, काम में अतृप्त नहुष नरक में गिरा ।

"राजा ऐड (इडा का पुत्र) स्वर्ग में प्रवेश कर, उस देवी उर्वशी को वश में लाकर भी, लोभ वश ऋषियों से सुवर्ण हरण करने की इच्छा से, विषयों में अतृप्त रहकर नाश को प्राप्त हुआ ।

"जो विषय बलि से महेन्द्र के पास, महेन्द्र से नहुष के पास, फिर नहुष से महेन्द्र के पास गये, उन विषयों में, स्वर्ग में या पृथ्वी पर, कौन विश्वास करे ?"[2]

सांख्याचार्य अराड ने सिद्धार्थ के सामने अपने दर्शन का विवेचन करने के बाद उनसे कहा था—

"जैगीषव्य, जनक, वृद्ध पराशर और दूसरे मोक्ष-प्राप्त महात्मा इस मार्ग से चलकर मुक्त हुए"।[3]

राजा प्रसेनजित् को राजधर्म का उपदेश देते हुए भगवान् बुद्ध ने उसे यह दृष्टान्त सुनाया था—

"इस संसार में धर्मानुसार राज्य की रक्षा करने वाले कृशाश्व ने स्वर्ग प्राप्त किया, जबकि इस संसार में मोहवश धर्म से विमुख

---

१. बुद्ध-चरित ९।६९-७०

२. बुद्ध-चरित ११।१३-१६

३. बुद्ध-चरित १२।६७

रहने वाले नृपति निकुम्भ ने काशी में पृथ्वी में प्रवेश किया।''[१]

विस्तार-भय से हम यहां उन सब प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी उद्धरणों को नहीं दे सकते जो अश्वघोष की रचनाओं में प्राप्त हैं। सौन्दरनन्द में भी अनेक पौराणिक विवरण भरे पड़े हैं। कपिलवस्तु के सम्बन्ध में महाकवि ने कहा है, 'जैसे ककन्द, मकन्द और कुशाम्ब के आश्रम में बनाये गये नगर उन ऋषियों के नाम से विख्यात हैं, वैसे ही कपिल के नाम से वह नगर प्रसिद्ध हुआ।''[२] महापरिनिर्वाण के समय भगवान् तथागत ने लिच्छवियों को शोकमग्न देखकर उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा, "वसिष्ठ, अत्रि और दूसरे सभी तपस्वी काल के वशीभूत हुए।.......पृथ्वीपति मान्धाता, वासव तुल्य वसु और भाग्यशाली नाभाग महाभूतों में मिल गये।....... मार्ग पर चलने वाला ययाति भी, भव्य रथवाला भगीरथ, निन्दा व अपयश प्राप्त करने वाले कौरव, राम, गिरिरजस्, अज, ये महात्मा, महर्षि और महेन्द्र के समान अनेक दूसरे लोग नाश को प्राप्त हुए, क्योंकि ऐसा कोई नहीं जिसका नाश न हो[३]।" अनित्यता का कितना मार्मिक ऐतिहासिक निदर्शन है, बुद्ध-पूर्व महापुरुषों की चुनी हुई नामावली के सहित !

अश्वघोष द्वारा अपने काव्यों में प्रयुक्त ऐतिहासिक और पौराणिक विवरणों का क्या महत्त्व है और उन्होंने भारतीय संस्कृति की क्या सेवा की है, यह आसानी से समझ में आ जायगा यदि हम यह याद रक्खें कि शताब्दियों तक इस बौद्ध कवि-दार्शनिक की रचनाओं का पारायण कश्मीर, गन्धार, काशगर, यारकन्द और खोतन के बौद्ध केन्द्रों में होता रहा और उसकी वीणा की झंकार गोमती-विहार (खोतन), आश्चर्य-विहार (कूचा) और तुन्-हुआङ् (मध्य एशिया) के सहस्रबुद्ध-गुहाविहार में शताब्दियों तक निनादित होती रही।

---

१. बुद्ध-चरित २०।१७

२. सौन्दरनन्द १।५८

३. बुद्ध-चरित २४।३८-४१

: १८ :

निचिरेन् : जापानी बौद्ध सन्त

जापानी लोगों की परम्परागत धारणा है कि बौद्ध धर्म का विकास उसके तीन क्रमिक रूपों में हुआ है। पहला रूप है, जिसे वे 'परिपूर्ण धर्म' कहते हैं। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद एक हजार वर्ष तक उनके शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा ने धर्म के सर्वाङ्गीण रूप का पालन किया। उनके जीवन में परिपूर्ण ब्रह्मचर्य का प्रकाश था। उसके बाद 'अनुकृत धर्म' का युग आया। इस युग में धर्म का आचरण न कर लोगों ने उसका अनुकरण मात्र किया। चैत्यों और विहारों की स्थापना इसी युग में की गई। 'अनुकृत धर्म' का युग एक हजार वर्ष तक चला। इसके बाद 'परवर्ती धर्म' का युग आया। इस युग की अवधि दस हजार वर्ष है, जो अब भी चल रही है। यह युग धर्म और नीति के आत्यन्तिक ह्रास का है। जापानी परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध का परिनिर्वाण ९४९ पू० हुआ, अतः उसमें दो हजार वर्ष जोड़ देने पर १०५१ ई० उनके मतानुसार 'परवर्ती धर्म' के आरम्भ होने का समय है। भारत में तो इस समय तक बौद्ध धर्म प्रायः लुप्त ही हो चुका था। जापानी इतिहास में भी यह तिथि एक भावी भय और आशंका की सूचना लेकर आई थी, यह उसके इतिहासकारों का सामान्य मत है।

जापान में छठी शताब्दी ईसवी के मध्य-भाग में बौद्ध धर्म के साथ ही सभ्यता का प्रवेश हुआ। भारत-चीन-कोरिया-जापान, यही वहां सद्धर्म के पहुंचने का क्रम था। थोड़े ही समय में बौद्ध धर्म जापान का राज-धर्म हो गया और जनता के हृदय में उसने जड़ें जमा लीं। ५०० ई० से ८०० ई० तक का समय जापान में बौद्ध धर्म के स्थापित होने का युग है। सन् ८०० ई० से लेकर १००० ई० तक बौद्ध धर्म

का व्यवस्थित रूप से संघटन होने लगा और अनेक सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियां साम्प्रदायिक वाद-विवाद के लिए प्रसिद्ध हैं। इस समय बौद्ध धर्म में नैतिक ह्रास के भी लक्षण प्रकट होने लगे। मुख्य बौद्ध सम्प्रदाय, जो इस समय तक जापान में उत्पन्न हो चुके थे, चार थे : (१) शिङ्-गोन् सम्प्रदाय, जो गुह्य मन्त्र-वादी सम्प्रदाय था। इसकी तुलना भारतीय वज्रयानी बौद्ध धर्म से की जा सकती है। यह तान्त्रिक बौद्ध धर्म का ही एक रूप था। (२) जोदो सम्प्रदाय या सुखावती सम्प्रदाय, जो अमिताभ बुद्ध की उपासना करता था और अमिताभ बुद्ध (जापानी-अमिद बुत्सु) के नाम के जप से मुक्ति सम्भव मानता था। 'सुखावती' नाम से इस सम्प्रदाय ने स्वर्ग-लोक की अपनी एक कल्पना कर रक्खी थी। (३) रित्सु सम्प्रदाय, जो विनय-संबंधी नियमों के पालन पर जोर देता था, किन्तु जिसमें केवल एक बाहरी कर्मकाण्ड ही शेष रह गया था (४) ज़ेन्-सम्प्रदाय, जो जापानी बौद्ध धर्म का ध्यान-सम्प्रदाय है। जापानी शब्द' 'ज़ेन्' पालि 'झान' का ही विकृत रूप है, जिसका संस्कृत प्रतिरूप 'ध्यान' है। यह सम्प्रदाय ध्यान पर अधिक जोर देता था और **'लंकावतार सूत्र'** इसका प्रधान ग्रन्थ था। सामाजिक परिस्थिति भी बहुत बिगड़ी हुई थी और राजनैतिक पतन अपनी चरम सीमा पर था। राजसत्ता कुछ गिने-चुने सैनिक अधिनायकों के हाथ में चली गई थी। उधर तेरहवीं शताब्दी के लगते-लगते भारत के समान जापान पर भी मंगोलों के आक्रमण होने लग गये थे। जापानी इतिहास की इस इतनी पृष्ठभूमि को हमें उसके तेरहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध सन्त और सुधारक महात्मा निचिरेन् की जीवनी और कार्य को समझने के लिए जान लेना चाहिए।

महात्मा निचिरेन् का जन्म ३० मार्च सन् १२२२ को दक्षिण-पूर्वी जापान के एक द्वीप में हुआ। उनके पिता एक निर्धन मछुए थे। ग्यारह वर्ष की अवस्था में निचिरेन् को शिक्षा के लिए पास के एक बौद्ध मठ में भेज दिया गया। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में श्रामणेर (भिक्षु-पद के उम्मेदवार) के रूप में उनकी दीक्षा हुई। इसी समय से वास्तविक बुद्ध-मन्तव्य को जानने, प्रचलित मतों में सत्यासत्य का निर्णय करने एवं

स्वयं बुद्धत्व का साक्षात्कार करने की गहरी लालसा उनमें जगी। इसके लिए अध्ययन, खोज और साधना की जितनी आवश्यकता थी, सब उन्होंने की। ध्यान भी किया, अमित बुद्ध का नाम भी जपा; किन्तु शान्ति नहीं मिली। अपनी इस समय की अवस्था का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है, "मेरी सदा से यह इच्छा थी कि बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए बीज बोऊं तथा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करूं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मैंने अपने अनेक बौद्ध भाइयों की तरह अमित बुद्ध के नाम का श्रद्धापूर्वक जप किया, किन्तु थोड़े ही दिन बाद सन्देह मेरे अन्दर घुसने लगे और मैंने निश्चय किया कि जापान में बौद्ध धर्म की जितनी शाखाएं प्रचलित हैं, उन सबका मैं अध्ययन करूंगा और उनके विभिन्न सिद्धान्तों को अच्छी तरह हृदयंगम करूंगा।" बुद्ध का अपना मत क्या था, यही निचिरेन् की समस्या थी, जिसे वे प्रचलित बौद्ध धर्म के विभिन्न रूपों के अध्ययन के द्वारा हल करना चाहते थे।

बौद्ध धर्म का मौलिक सत्य क्या है? जिस सत्य को शाक्यमुनि ने सिखाया है, उसका मौलिक रूप क्या है? इसी की खोज के चारों ओर निचिरेन् की विचार-धारा घूम रही थी। जैसे-जैसे उन्होंने ज्ञान की खोज की, उन्हें यह निश्चय होने लगा कि सत्य एक ही है और न केवल बौद्ध धर्म के, बल्कि मानव-जीवन के तत्वों में भी विभिन्नता नहीं है। इसीको व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है, "बौद्ध धर्म का सत्य क्या है, इस की खोज में बीस वर्ष तक मैं बौद्ध धर्म के अनेक केन्द्रों में घूमता रहा। अन्त में मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि मूलतः बौद्ध धर्म का सत्य एक ही होना चाहिए।" दस वर्ष इसी प्रकार खोज और चिन्तन में और बीत गये। तीस साल के गहरे चिन्तन के बाद निचिरेन् को भान हुआ कि उन्हें सच्ची वस्तु हाथ लग गई है। एक दिन विहार के समीपस्थ पहाड़ की चोटी पर से प्रशान्त महासागर की ओर से उदय होते हुए बाल-रवि की ओर दृष्टि जमाये हुए, ध्यानस्थ भिक्षु ने पर्वत को अपनी वाणी से शब्दायमान करते हुए उच्चारण किया, "नमु—म्योहो—रेङ्गे—क्यो" अर्थात् "नमः सद्धर्मपुंडरीकाय।" यही महात्मा

निचिरेन् का सन्देश था, जिसे उन्होंने सूर्य को साक्षी कर विश्व को दिया। उनके इस सन्देश का क्या अर्थ था, इसे हमें यहां कुछ समझ लेना चाहिए। उपर्युक्त मन्त्र में, जिसका उच्चारण और अभ्यास महात्मा निचिरेन् और उनके अनुयायियों के लिए एक महान् धार्मिक कृत्य था, 'सद्धर्मपुंडरीक' को नमस्कार किया गया है। 'सद्धर्मपुंडरीक' (सद्धर्म रूपी श्वेत कमल) एक संस्कृत ग्रंथ का नाम है, जिसमें भगवान् बुद्ध के उन उपदेशों का संग्रह है, जो उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम आठ वर्षों में गृध्रकूट पर्वत पर दिये थे। इस ग्रंथ का चीनी भाषा में अनुवाद कूचा के प्रसिद्ध भारतीय आचार्य कुमारजीव ने ४०७ ई० में किया था। कुमारजीव के अनुवाद के अतिरिक्त दो अनुवाद और भी प्रचलित थे। एक था यूह्-ची जाति में उत्पन्न भिक्षु धर्मरक्ष के द्वारा सन् २८६ ई० में किया हुआ और दूसरा सन् ६०१ ई० में भिक्षु ज्ञान-गुप्त और धर्मगुप्त द्वारा किया हुआ। निचिरेन् ने इन सब अनुवादों को देखा था और उन्हें कुमारजीव का अनुवाद अधिक पसन्द आया था। इसी ग्रंथ का अनुशीलन करते हुए निचिरेन को अनुभव हुआ कि वास्तविक बुद्ध-मन्तव्य यही है, जिसकी घोषणा उन्होंने जापान और सारे विश्व के लिए निर्भीकतापूर्वक की। जिस 'सद्धर्मपुंडरीक' को निचिरेन् ने इतनी अधिक महत्ता दी, उसकी विषय-वस्तु और विचार-धारा क्या है, इसे जानने की बहुतों को इच्छा होगी। इस इच्छा की पूरी तृप्ति यहां असम्भव है, क्योंकि सारे ग्रंथ में २७ परिवर्त (अध्याय) है और बौद्ध विश्लेषणात्मक दर्शन को संक्षेप में समझना-समझाना भी आसान नहीं है। फिर भी इतना कह देना आवश्यक होगा कि इस ग्रंथ में भगवान् शक्यमुनि के द्वारा उपदिष्ट उस एकायन मार्ग का वर्णन है, जिसके द्वारा भूतकाल में बुद्धों ने ज्ञान प्राप्त किया है और आगे भी प्राणी करेंगे। भगवान् शाक्यमुनि के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को सार्व-भौम धर्म का साकार रूप दे देना इस ग्रंथ की एक बड़ी विशेषता है। भगवान् शाक्यमुनि मरे नहीं, बल्कि सब देश और सब काल में विद्य-मान हैं, यह इस ग्रंथ का आश्वासनकारी दर्शन है। जैसे भगवान् कृष्ण ने गीता में भक्तों के लिए आश्वासन दिये हैं, वैसे ही यहां भी भगवान्

शाक्यमुनि देते दिखाये गये हैं। बुद्ध करुणा के वशीभूत होकर अनेक रूपों में इस जगत् में अवतरित होते हैं, यह विचार भी यहां विद्यमान है। अतः भक्ति के उद्गम की दृष्टि से इस महायान-सूत्र का बहुत महत्व है। 'सद्धर्मपुंडरीक सूत्र' के मूल संस्कृत रूप का सम्पादन सेंत पीतरबुर्ग (वर्तमान लेनिनग्राद) से सन् १९१२ में हुआ था। 'सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट' ग्रन्थमाला (संख्या २१) में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। यह प्रसन्नता की बात है कि 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' का देवनागरी संस्करण डा० नलिनाक्ष दत्त द्वारा सम्पादित होकर एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता से सन् १९५३ में प्रकाशित हो गया है।

'सद्धर्मपुंडरीक' निचिरेन् के लिए केवल एक ग्रन्थ मात्र नहीं था। 'सद्धर्मपुंडरीक' को नमस्कार करने का तात्पर्य था उनके लिए उस परिपूर्ण सत्य को नमस्कार करना, जो वहां प्रकट हुआ है। इस विषय में अपनी भावना प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है, "इस धर्म-ग्रंथ के सारे अक्षर भगवान् बुद्ध के जीवित शरीर हैं, जिसे उन्होंने परिपूर्ण ज्ञान की अवस्था में प्रकट किया है। यह तो हमारे चर्म-चक्षु हैं, जिन्हें यहां केवल अक्षर दिखाई पड़ते हैं। जैसे प्रेतों को गंगा के जल में भी आग दिखाई देती है, जबकि मनुष्य उसमें जल देखते हैं और देव देखते हैं अमृत। जल तो एक ही है, किन्तु प्रेत, मनुष्य और देवताओं के विभिन्न कर्मों के कारण उन्हें उसमें भिन्न-भिन्न वस्तुएं दिखाई देती हैं। इसी प्रकार जो अन्धे हैं, वे इस धर्म-ग्रंथ के अक्षरों में कुछ नहीं देखते। मनुष्य की चमड़े की आंखें इसमें केवल अक्षर देखती हैं। जो शून्यवाद से परितृप्त हैं, वे इसमें केवल शून्यवाद देखते हैं, जबकि बोधिसत्त्व प्राणी (बुद्धत्व को खोजने वाले साधक) इसमें गम्भीर, अपरिमेय सत्यों को देखते हैं और जो ज्ञान को प्राप्त कर चुके हैं, वे इसके प्रत्येक अक्षर में देखते हैं भगवान् शाक्यमुनि के स्वर्णिम शरीर को"। इस गहरी श्रद्धा के साथ 'सद्धर्मपुंडरीक' में निहित बुद्ध-मन्तव्य को प्रचारित करने का निचिरेन् ने निश्चय किया। इसके लिए उन्हें विरोध भी काफी सहना पड़ा। जिस दिन प्रातःकाल निचिरेन् ने सूर्य को साक्षी

कर 'नमःसद्धर्मपुंडरीकाय' की घोषणा की, उसी के दोपहर को उन्होंने भिक्षुओं और गृहस्थों की एक भारी सभा में भाषण दिया और प्रचलित सम्प्रदायों की कड़ी आलोचना की। परिणाम यह हुआ कि उन्हें उसी संध्या को मठ से बाहर निकाल दिया गया। बहिष्कृत साधु ने कामाकुरा को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। कामाकुरा उस समय के सैनिक शासकों की राजधानी थी। उस समय देश पर विपत्तियों का एक पहाड़ टूट पड़ा था। सैनिक शासन के मारे लोग तंग थे। उस पर तूफान, भूकम्प, बाढ़, अकाल, महामारी, एक के बाद एक, सबने राष्ट्र के दुर्भाग्य में योग दिया। भूख और बीमारी से पीड़ित आदमी चारों ओर दिखाई पड़ते थे। सड़कें लाशों से पटी हुई थीं। शासकों की उदासीनता अक्षम्य थी। किन्तु जनता भी दुःख का वास्तविक त्राण न जानती हुई नाना प्रकार के देवों और पितरों को पूजने में मग्न थी। निचिरेन् की आत्मा को बहुत दुःख हो रहा था। उन्होंने जनता के दुःखों का विश्लेषण कर देखा कि धर्म की विकृति ही इस सबका मूल कारण है। जनता और शासकों को समझाते हुए उन्होंने "सत्य और देश-रक्षा की स्थापना" (रिश्शो-अनकोकु-रोन्) नाम की एक पुस्तिका लिखी। इसमें शासकों को उनका कर्त्तव्य सुझाया गया था और जनता से मन्त्र-तन्त्र आदि अन्ध-विश्वास को छोड़कर भगवान् शाक्यमुनि के वास्तविक उपदेश को, जो 'सद्धर्मपुण्डरीक' में व्यक्त हुआ है, ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई थी। निचिरेन् ने राष्ट्र को चेतावनी देते हुए कहा था, "सम्पूर्ण विपत्तियों में से जिस एक का अनुभव अभी हमने नहीं किया है, वह है विदेशी आक्रमण की विपत्ति। जब मैं धर्म-ग्रंथ में की हुई भविष्यवाणियों को पढ़ता हूं और अपने चतुर्दिक् संसार को देखता हूं तो मुझे यह मानना पड़ता है कि देवता और मनुष्यों के मस्तिष्क भ्रमित हो रहे हैं। अतीत में सभी भविष्य-वाणियां पूरी हो चुकी हैं, क्या हम यह कहने का साहस कर सकते हैं कि आगे भी शेष भविष्यवाणियां पूरी नहीं होंगीं?" शासक और सुखावती-वादी बौद्ध, जिनके निचिरेन् कट्टर समालोचक थे, इन स्वतन्त्र शब्दों को सुनने के लिये तैयार न थे। एक उत्तेजित भीड़

ने उनकी झोंपड़ी में आग लगा दी। सरकार भी पीछे न रही। उसने निचिरेन् पर शांति-भंग का आरोप लगाकर उन्हें इजू नामक प्रायद्वीप में निर्वासित कर दिया। उनका जीवन निरन्तर संकट में बीता और कई बार मृत्यु से बाल-बाल बचे। एक निर्धन मछुए और उसकी पत्नी ने यहां निचिरेन् की बड़ी सेवा की, जिसके लिए कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन्होंने उन्हें अपने पूर्व जन्म के मां-बाप कहा है। इजू प्रायद्वीप की भोली-भाली ग्रामीण जनता पर निचिरेन् के उपदेशों का बड़ा प्रभाव पड़ा और काफी संख्या उनके अनुयायियों की हो गई। धर्मोपदेश के लिए इधर-उधर घूमते हुए स्वतन्त्रचेता निचिरेन् को कभी-कभी रात आश्रयहीन अवस्था में बितानी पड़ती थी।

निचिरेन् को इजू प्रायद्वीप में निर्वासित हुए तीन वर्ष भी नहीं हुए थे कि उन्हें सरकारी आज्ञा से मुक्त कर दिया गया। सरकार को आशा थी कि निचिरेन् का जोश ठंडा हो गया होगा, परन्तु बात ऐसी नहीं हुई। इसी समय एक और घटना घटी। सन् १२६८ ई० में मंगोल सम्राट् कुब्ले खान् का एक दूत जापानी तट पर उतरा और कर-दान या भावी आक्रमण की सूचना दी। निचिरेन् इस सम्बन्ध में आठ वर्ष पहले ही जापानी शासकों और जनता को चेतावनी दे चुके थे। अब कुब्ले खान् के दूत के आने पर वे सीधे कामाकुरा गये और सरकार से साफ शब्दों में कहा, "आठ वर्ष पहले दी गई मेरी चेतावनी को स्मरण करो। क्या अब यह पूरी नहीं हो रही है? क्या निचिरेन् के सिवा और कोई दूसरा आदमी है, जो इस राष्ट्रीय आपदा को टाल सकता है? केवल वही जो वास्तविक कारण को जानता है, इस परिस्थिति को वश में कर सकता है।" सरकार को निचिरेन् की कहां सुननी थी? उल्टे उन्हें देश-द्रोह के अभियोग में पकड़ लिया गया और मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दी गई। निचिरेन् के वध के लिए सब वस्तुएं तैयार थीं। चारों ओर से सिपाही घेरा लगाये हुए थे। साक्षी अफसर कुर्सी पर बैठा हुआ था। उसके पीछे जल्लाद खड़ा था। तिनकों की एक चटाई पर भिक्षु निचिरेन् बैठे हुए थे, उनके दोनों हाथ अंजलि-बद्ध थे और वे उच्चारण कर रहे थे, "नमु म्यो-हो-

रेंगे-क्यो" अर्थात् "नमः सद्धर्म-पुंडरीकाय।" तलवार उनके सिर पर अभी गिरना ही चाहती थी कि "आग के गोले के समान एक प्रकाशवान् वस्तु पूर्व-दक्षिण से उत्तर-पश्चिम की ओर आकाश को देदीप्यमान करती हुई चली गई। उसकी रोशनी में सबके चेहरे दिखाई देने लगे। अफसर और सिपाही डर गये और जल्लाद के हाथ से तलवार छूट गई। वह बेहोश होकर धरती पर गिर गया। कुछ सिपाही घोड़ों की पीठ पर ही भयभीत होकर पड़े रह गये और कुछ भाग गये।" इस संभ्रम में निचिरेन् का प्राण-वध असंभव हो गया और सरकार ने भी आशंकित होकर वध की आज्ञा वापस ले ली। उसके बजाय निचिरेन् को सोदो द्वीप में, जो जापान के उत्तरी समुद्र में है, निर्वासित कर दिया गया। यहां वे अन्धविश्वास के विरुद्ध आवाज उठाते और भगवान् बुद्ध के परिपूर्ण उपदेश 'सद्धर्मपुंडरीक-सूत्र' का प्रचार करते हुए ढाई वर्ष तक रहे। उसके बाद सरकार ने निर्वासन का दंड हटा लिया; किन्तु निचिरेन् की वृत्ति एकान्त ध्यान की ओर अधिक थी और वे उसको अपने धर्म-प्रचार के लिए आवश्यक मानते थे। अतः वे फूजी-यामा के पश्चिम मिनोबू की पहाड़ियों में एकान्त ध्यान के लिए चले गये और वहां आठ वर्ष तक रहे।

महात्मा निचिरेन् बड़े उत्कट साहस के पुरुष थे। मंगोल आक्रमण के समय निचिरेन् ने उनके लिए 'तुच्छ मंगोल' कहा था और जापान के भारी आशामय भविष्य में आस्था प्रकट की थी। फिर भी वे युद्ध-वादी न होकर शांतिवादी थे। उन्होंने अपने एक शिष्य को, जो मंगोलों के विरुद्ध युद्ध में लड़ रहा था, लिखा था, "....युद्ध चल रहा है। देश के सभी मनुष्य इस वर्तमान जीवन में असुर हो जायेंगे और मरने के बाद अधम योनियों में पड़ेंगे। तुम भी युद्ध-क्षेत्र में मर सकते हो। फिर भी निश्चय रक्खो कि हम गृध्रकूट पर मिलेंगे। यद्यपि इस विपत्ति में तुम भी सम्मिलित हो, फिर भी मत भूलो कि तुम्हारी आत्मा भगवान् बुद्ध की आत्मा के साथ है। इस जीवन में तुम असुरों के जीवन में भाग ले रहे हो, परन्तु मृत्यु के बाद तुम निश्चय ही बुद्ध के लोक में पैदा होगे।" मंगोलों का आक्रमण विफल हो गया और देश विनाश से

बच गया। शिङ् -गोन् मतवादी देवताओं की इस कृपा के लिए अनेक रहस्यवादी कर्मकांड रचने लगे और जितना वेतन युद्ध-क्षेत्र पर लड़ने-वाले सिपाहियों को नहीं मिला था, उससे अधिक दक्षिणाएं पुरोहितों ने प्राप्त कीं। जापान में उस समय अन्धविश्वास का काफी बोल-बाला था। मंगोलों से बच जाने को निचिरेन् जापान का वास्तविक बच जाना नहीं मानते थे। सभी अन्धविश्वास से जापान को मुक्त होकर भगवान् शाक्यमुनि के मार्ग को पूर्णतः अपनाना चाहिए। जापान की पूर्ण विमुक्ति को वे बौद्ध धर्म की पूर्ण स्वीकृति में मानते थे। "सबसे बड़ी बात जापान में इस सत्य-द्वार (बौद्ध धर्म) की पूर्ण स्थापना है। एक दिन या एक घंटे के लिए भी देश कैसे सुरक्षित रह सकता है, जब तक कि भगवान् शाक्यमुनि, गृध्रकूट पर्वत के उपदेष्टा, अपनी दृश्य और अदृश्य सहायता और रक्षा इस देश को न दें।" उनका स्वप्न था कि जापान विश्व में बौद्ध धर्म के प्रचार का केन्द्र बनेगा और बौद्ध धर्म की जन्म-भूमि भारत में भी वह वहां से जायगा। चीन और जापान की एक परम्परा के अनुसार भारत 'इन्दु देश' कहलाता है। उसको इसी नाम से पुकारते हुए महात्मा निचिरेन् कहते हैं, "भारत 'इन्दु-देश' कहलाता है। यह इस देश में भगवान् बुद्ध के उदय होने सम्बन्धी भविष्य-वाणी का सूचक है। हमारा द्वीप 'जापान' अर्थात् 'सूर्योदय का देश' कहलाता है। क्या यही वह देश नहीं है, जहां भगवान् बुद्ध आगे पैदा होंगे ? सूर्य पूर्व में उदय होकर पश्चिम में अस्त होता है। यह इस बात का लक्षण है कि बुद्ध का धर्म 'सूर्योदय के देश' (जापान) से फिर 'इन्दु के देश' (भारत) में वापस जायगा।"

महात्मा निचिरेन् ने १२७२ ई० में 'आंखों का खोलना' नामक एक निबन्ध लिखा, जिसमें उन्होंने अपने देशवासियों से कनफूसी धर्म, हिन्दूधर्म और बौद्ध धर्म का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए अनुरोध किया। इस महत्वपूर्ण निबन्ध का पहला वाक्य है--"तीन वस्तुएं मनुष्य के लिए सम्माननीय हैं—अपना स्वामी, अपना गुरु और अपने माता-पिता। इसी प्रकार तीन विषय उसके लिए अध्ययनीय हैं—कनफूसी धर्म, हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म।" एक और जगह उन्होंने लिखा है,

"यदि तुम इसी क्षरण बुद्धत्व का साक्षात्कार करना चाहते हो तो अभि-मान की ध्वजा को नीचे कर दो, क्रोध की गदा को फेंक दो और परम सत्य-रूपी बुद्ध-शासन में विश्वास करो। यश और लाभ इस जीवन की मृग-मरीचिका के अलावा और कुछ नहीं हैं। गर्व और अहंकार केवल भावी जीवन के बन्धन हैं। यदि तुम किसी गहरे गड्ढे में गिर पड़े हो और किसी ने तुम्हें खींचने के लिए रस्सी डाली है, तो क्या तुम केवल इसीलिए कि तुम्हें खींचने वाले की शक्ति में विश्वास नहीं है, उस रस्सी को नहीं पकड़ोगे ? क्या बुद्ध ने यह घोषणा नहीं की है—"मैं ही अकेला रक्षक और त्राता हूं ?" यही शक्ति है। क्या यह उपदेश नहीं दिया गया है कि श्रद्धा ही (निर्वाण का)द्वार है ? यही रस्सी है। जो इसे पकड़ने में हिचकिचाता है और पवित्र सत्य (नमः सद्धर्मपुंडरीकाय) का उच्चारण नहीं करता, वह बोधि तक नहीं पहुंच सकेगा। क्या एक भी ऐसा महीना या दिन बीतना चाहिए जबकि उस उपदेश की, जो कहता है कि जगत् में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो बुद्धत्व को प्राप्त न कर सके, पूजा न की जाय ? 'सद्धर्मपुंडरीक' की श्रद्धा के साथ पूजा करो, उसका स्वयं उच्चारण करो और दूसरों से उच्चारण करवाने की प्रेरणा करो। यही इस मानव-जीवन में तुम्हारा कर्त्तव्य है।" स्वयं निचिरेन् का अनुभव किस उच्च भूमि तक पहुंच गया था, इसके दर्शन हम उनके एक लेख में करते हैं, जिसे उन्होंने सोदो द्वीप में गम्भीर एकांतवास करते हुए लिखा था—"पहाड़ों के बीच में स्थित यह जगह सांसारिक जीवन से बिल-कुल अलग है। पूर्व, पच्छिम, उत्तर, दक्षिण, पास-पड़ोस में मनुष्यों की कोई बस्ती नहीं है। इस समय मैं ऐसे ही एकान्त आश्रम में रह रहा हूं; किन्तु मेरी छाती में, निचिरेन् की मांस की काया में, वह रहस्य छिपा हुआ है, जिसे भगवान् शाक्यमुनि ने गृध्रकूट पर्वत पर प्रकट किया था और जिसका उत्तराधिकार मुझे मिला है। **मैं जानता हूं, मेरा हृदय वह जगह है, जहां असंख्य बुद्ध ध्यानस्थ बैठे हैं। वे मेरी जिह्वा पर धर्म-चक्र-प्रवर्तन कर रहे हैं। मेरा कण्ठ उन्हें जन्म प्रदान कर रहा है। मेरे मुख में वे सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर रहे हैं।** यह जगह (पहाड़ी स्थान) ऐसे

पुरुष, निचिरेन्, का निवास-स्थान है, जो रहस्यात्मक रूप से 'सद्धर्म-पुंडरीक' को अपने जीवन में साक्षात्कार कर रहा है। अतः सचमुच यह स्थान भी गृध्रकूट पर्वत से कम पवित्र नहीं है। सत्य महान् है। जो सत्य का साक्षात्कार करता है, वह भी महान् है। जिस जगह सत्य का साक्षात्कार किया जाता है, वह जगह भी महान् है, क्योंकि इस प्रकार की जगह को ही वह स्थान मानना चाहिए, जहां सम्पूर्ण तथागतों ने परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है, उसी जगह पर सम्पूर्ण तथागतों ने धर्म-चक्र को प्रवर्तित किया है, उसी जगह पर सम्पूर्ण तथागतों ने महापरि-निर्वाण में प्रवेश किया है।" इसी भाव को व्यक्त करते हुए उन्होंने सूत्रात्मक रूप से एक अन्य जगह कहा है, "भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन-काल में जिन सत्यों को प्रकट किया, उन सबका अस्तित्व हमारे अन्दर है। यदि इसको तुम जान लो तो तुम्हें आत्म-ज्ञान प्रकट हो गया।" इस तथा इस प्रकार के अन्य अनेक उद्गारों में महात्मा निचिरेन् ने ज्ञान की उस अद्वैत अवस्था की ओर संकेत किया है, जहां आत्मा, बुद्ध और सम्पूर्ण सत्ता मिलकर एक हो जाती हैं, जिसके अलावा और कुछ अस्तित्व नहीं रहता। इस वेदान्तिक भावना को और भी अधिक स्पष्ट उन्होंने अपने एक पत्र में, जिसे उन्होंने अपनी एक शिष्या भिक्षुणी को लिखा था, किया है। पत्र के अन्त में वे लिखते हैं, "जब तुम निचिरेन् को देखने की इच्छा करो तो आदर के साथ उदय होते हुए सूर्य की ओर देखो या संध्या समय निकलते हुए चन्द्रमा को देखो। मेरा व्यक्तित्व सदा सूर्य और चन्द्र में प्रतिबिम्बित है। और फिर इसके बाद तो मैं तुम्हें गृध्रकूट पर्वत पर मिलूंगा ही।" "यह जो पुरुष सूर्य में है, वही मैं हूं"—यह तो उपनिषद् के ऋषि ने कहा था। पर इस अनुभव का सर्वोत्तम साक्ष्य जापानी सन्त निचिरेन् ने ही अपने उपर्युक्त उद्गार में दिया है। यहां केवल दो मौलिक आध्यात्मिक अनुभवों की समानता की ओर संकेत करना ही हमारा लक्ष्य है। महात्मा निचिरेन् के चरित्र की एक बड़ी विशेषता थी उनकी कृतज्ञता और पर-दुःख-कातरता। अपने एक सिपाही शिष्य को, जिसने उनके वध-स्थान को ले जाये जाने के समय उनके साथ सहानुभूति दिखाई थी, पत्र में उन्होंने लिखा

था, "मुझे स्मरण है कि जब मैं वध के लिए ले जाया जा रहा था, तो तुम मेरा अनुसरण करते हुए आ रहे थे। तुमने मेरे घोड़े की लगाम पकड़ ली थी और तुम रो रहे थे। जब तक मैं जीवित हूं, इसे कैसे भूल सकता हूं। यदि तुम अपने (पूर्वजन्मों के) गम्भीर पापों के कारण नरक में भी गिरो तो चाहे मेरे स्वामी भगवान् शाक्यमुनि मुझे बुद्धत्व के लिए कितना भी अनुरोध क्यों न करें, मैं उनकी आज्ञा को नहीं मानूंगा, बल्कि मैं निश्चय ही नरक में, जहां तुम होगे, आ जाऊंगा। यदि मैं और तुम नरक में होंगे, तो निश्चय ही शाक्य बुद्ध और 'सद्धर्मपुंडरीक' भी हमारे साथ वहीं होंगे।"

मिनोबू की पहाड़ियों में आठ वर्ष तक एकान्त ध्यान करने के पश्चात् निचिरेन् ने सोचा, "हमारे भगवान् शाक्यमुनि ने अपने जीवन के अन्तिम आठ वर्षों में गृध्रकूट पर 'सद्धर्मपुंडरीक' का प्रकाश किया और फिर महापरिनिर्वाण के लिए वह उत्तर-पूर्व दिशा में कुशीनगर की ओर चले गये। मैं भी अपने आठ वर्ष मिनोबू में बिता चुका। अब मुझे जीवन के अन्त के लिए तैयारी करनी चाहिए।" वह उत्तर की ओर चलते हुए इकेगामी नामक स्थान पर पहुंचे और वहीं उन्होंने ६१ वर्ष की अवस्था में 'सद्धर्मपुंडरीक' के पन्द्रहवें परिवर्त (तथागतायुष्प्रमाण परिवर्त) में उद्धृत भगवान् तथागत के इन वचनों का अपने शिष्यों के साथ पाठ करते हुए निर्वाण में प्रवेश किया :

"जब से मैंने बुद्धत्व प्राप्त किया, असंख्य, अपरिमाण युग बीत चुके हैं। इस काल में मैं लगातार सत्य का उपदेश करता रहा हूं और असंख्य प्राणियों को मैंने बुद्धों के मार्ग पर लगाया है।

इस प्रकार असंख्य, अपरिमाण युग बीत चुके हैं। प्राणियों को जगाने के लिए मैं महापरिनिर्वाण का प्रकाश करता हूं, उपाय-कौशल्य के द्वारा। वास्तव में मैं कभी तिरोहित नहीं होता, बल्कि शाश्वत काल तक रहकर सत्यों का प्रकाश करता हूं।

मैं संसार का पिता हूं, स्वयम्भू हूं, सब प्रजाओं का चिकित्सक हूं, स्वामी हूं।

मनुष्यों को मोहाविष्ठ देखकर मैं मरता-सा दिखाई पड़ता हूं, परन्तु

वास्तव में मैं सदा जीवित हूं।

मैं सदैव यह देखता रहता हूं कि प्राणी सन्मार्ग के प्रति श्रद्धालु हैं कि नहीं।

और मैं सत्य को अनेक रूपों में उन्हें उपदेश करता हूं, उनकी अलग-अलग शक्ति और धारणा के अनुसार, उनके निर्वाण के लिए।

अब मेरी केवल एक ही इच्छा है—

किस प्रकार सब प्राणी कल्याणकारी मार्ग पर लगें और शीघ्र ही बोधि का साक्षात्कार करें।"

: १६ :

नागार्जुन और उनका 'सुहल्लेख'

नागार्जुन का नाम भारतीय साहित्य और दर्शन के इतिहास में अपनी तेजस्विता लिए हुए है। शून्यवादी आचार्य के रूप में उनकी कीर्ति-कथा भारत में ही नहीं, चीन, तिब्बत और मंगोलिया के इतिहास-पृष्ठों में लिखी जाती है। उत्तरकालीन बौद्धधर्म के वह एक विस्मयकारी साधक और विचारक हैं। महायान बौद्धधर्म की माध्यमिक शाखा के वे प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। वैद्य और तांत्रिक, उद्भट विचारक और तार्किक, कवि और सार्वभौम विद्वान्, साधक और मानवताप्रेमी, नागार्जुन की सर्वतोमुखी प्रतिभा से भारत और अन्य कई देशों की साधना-भूमियां आलोकित हैं।

युआन् चुआङ् (सातवीं शताब्दी) ने उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के चार प्रतिभाशाली आचार्यों का उल्लेख किया है, जिन्हें उसने 'संसार को आलोकित करने वाले चार सूर्य' कहा है। इनमें एक आचार्य नागार्जुन हैं। शेष तीन हैं अश्वघोष, आर्यदेव और कुमारलब्ध या कुमारलात। आचार्य नागार्जुन के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में हमें निश्चित

सामग्री नहीं मिलती। उनके काल और निवास-स्थान के सम्बन्ध में जो सूचनाएं मिलती हैं, उनमें भारी विविधता है। नागार्जुन की जीवनी का कुमारजीव ने चीनी भाषा में सन् ४०५ ई० में अनुवाद किया। वाटर्स के मतानुसार इस जीवनी के लेखक भी सम्भवतः कुमारजीव ही थे। नागार्जुन के जीवन-वृत्त को जानने का सबसे अधिक प्रामाणिक और आधारभूत ग्रन्थ यही है। इसके अलावा अनेक चीनी और तिब्बती ग्रन्थों में नागार्जुन के जीवन के सम्बन्ध में प्रभूत सूचना मिलती है, जो अधिकांशतः अलौकिक तथ्यों से भरी हुई है। इतनी भारी जटिलता नागार्जुन के बहुमुखी व्यक्तित्व को लेकर उठ खड़ी हुई है कि विद्वान् मानने लगे हैं कि 'नागार्जुन' नाम से विख्यात बौद्ध दार्शनिक, तांत्रिक, वैद्य और रासायनिक, ये चार भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे जिन्हें गलती से मिला दिया गया है। रासायनिक और तान्त्रिक नागार्जुन का समय सातवीं या आठवीं शताब्दी ईसवी माना जाता है। फिर भी बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन के स्वयं तान्त्रिक और रासायनिक होने की बात तिब्बती परम्परा में इतनी सुप्रतिष्ठित है कि उस पर सहसा अविश्वास करने की प्रवृत्ति नहीं होती। कुमारजीव द्वारा चीनी भाषा में अनुवादित नागार्जुन की जीवनी के अनुसार नागार्जुन का जन्म विदर्भ (बरार) में ब्राह्मण-वंश में हुआ था। युआन् चुआङ् ने दक्षिण कोसल को नागार्जुन का जन्म-स्थान बताया है। भौगोलिक दृष्टि से दोनों वर्णनों में कोई भेद नहीं है। चारों वेदों का गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर तरुणावस्था में नागार्जुन ने भिक्षु-पद की दीक्षा ली। इसके बाद उनका अधिकांश समय दक्षिण-भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए श्री पर्वत (नागार्जुनीकोंड, गुन्टूर) में बीता। लामा तारानाथ के मतानुसार नागार्जुन ने अपनी आयु का अधिक भाग नालन्दा में बिताया। कुमारजीव ने हमें बताया है कि भिक्षु होने के बाद केवल ९० दिनों में नागार्जुन ने सम्पूर्ण त्रिपिटक का अध्ययन कर लिया और उसके बाद उन्होंने हिमालय के एक वृद्ध भिक्षु से महायान-सूत्रों को पढ़ा। तिब्बत और चीन के अनेक विद्वानों ने नागार्जुन के जीवन-काल को बुद्ध-परिनिर्वाण के ४००, ५०० या ७०० वर्ष बाद बताया है। तारानाथ के मतानुसार नागार्जुन

कनिष्क के समकालीन थे। परन्तु अन्य अनेक प्रमाणों से यह निश्चित है कि नागार्जुन आंध्र राजा यज्ञश्री गौतमीपुत्र (१६६-१६६ई०) के समकालीन थे। आन्ध्र राजाओं की पदवी 'सातवाहन' (श-तो-पो-ह) थी। इन राजाओं ने ईसवी-पूर्व दूसरी शताब्दी से तृतीय शताब्दी ईसवी तक राज्य किया। जैसा हम अभी देखेंगे, अपने 'सुहृद्' सातवाहन-राजा के लिये पत्र के रूप में नागार्जुन ने अपनी एक रचना 'सुहृल्लेख' लिखी थी, जिसका परिचय हम अभी देंगे।

नागार्जुन के विषय में अनेक आश्चर्यजनक किंवदन्तियां प्रचलित हैं। कहा जाता है कि चिरायुष्य का रहस्य उन्हें ज्ञात था। कुमारजीव के वर्णनानुसार वे ३०० वर्ष तक जीवित रहे, जबकि तिब्बती वर्णनों ने उन्हें ६०० वर्ष की आयु दी है। एक अन्य परम्परा के अनुसार उनकी आयु ५२६ वर्ष बताई जाती है। चट्टानों को स्वर्ण में परिवर्तित कर देने का श्रेय भी नागार्जुन को दिया जाता है। नेत्र-चिकित्सक के रूप में उनकी ख्याति उनके जीवन-काल में ही चीन में पहुंच गई थी। नेत्र-रोगों पर लिखी हुई उनकी पुस्तक 'येन्-लुन्' चीनी भाषा में पाई जाती है। 'नागार्जुन बोधिसत्त्व के नुसखे' (लुंग्-शु-पु-स-यश्रो-फंग्) नामक पुस्तक भी चीनी भाषा में मिलती है। नागार्जुन के जीवन की एक स्मरणीय घटना देव या आर्य देव का उनसे मिलना है, जो बाद में उन के शिष्य और उनके दर्शन को आगे बढ़ाने वाले प्रसिद्ध आचार्य हुए। आर्यदेव सिंहल (या उत्तर भारत में सिंहपुर) के निवासी थे। नागार्जुन की ख्याति सुनकर उनके पास मिलने आए। नागार्जुन ने मिलने से पूर्व अपने एक शिष्य के हाथ अपने भिक्षा-पात्र को जल से भरवाकर आर्यदेव के पास भिजवा दिया। आर्यदेव ने उसमें एक सुई डालकर उसे लौटा दिया। नागार्जुन बहुत प्रसन्न हुए। बाद में आर्यदेव से मिले और उन्हें शिष्यत्व प्रदान किया। नागार्जुन का जल से भरा पात्र इस बात का द्योतक था कि उनका ज्ञान जल से भरे बर्तन की तरह परिपूर्ण है। आर्यदेव ने उसमें सुई डालकर यह जतला दिया कि वे उस सब का अवगाहन कर चुके हैं। इस गूढ़ अभिप्रायमयी अभिव्यक्ति के ढंग की अनेक व्यंजनात्मक घटनाएं हमें कबीर, नानक आदि सन्तों की

जीवन-स्मृतियों में मिलती हैं और चीन और जापान के ध्यान-सम्प्रदाय के साधकों की तो यह एक आकर्षक और मौलिक परिपाटी ही रही है, जिसका अध्ययन हमें एशियाव्यापी सन्त-परम्पराओं के तुलनात्मक रूप को समझने के लिये करना चाहिए।

नागार्जुन के नाम से लिखे हुए अनेक ग्रन्थ हमें मिलते हैं, परन्तु निश्चित रूप से उनके लिखे २० ग्रन्थ हमें चीनी अनुवादों में सुरक्षित मिलते हैं, जिनमें से १८ का उल्लेख बुनियो नंजियो ने अपने प्रसिद्ध 'केटेलाग' में किया है। उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचनाएं बारह हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) माध्यमिक-कारिका या माध्यमिक-शास्त्र (चुंग्-कुआम-लुन्)। महायान बौद्ध धर्म के माध्यमिक सम्प्रदाय का यह आधारभूत ग्रन्थ है और इसमें शून्यता के दर्शन का गहन विवेचन किया गया है। नागार्जुन की यह सर्वोत्तम कृति है। २७ प्रकरणों में विभक्त है।

(२) दश-भूमि-विभाषा शास्त्र (शिह्-चु-पि-पो-श-लुन्)। इसमें बोधिसत्व की दस भूमियों में से प्रमोदिता और विमला नामक प्रथम दो भूमियों का विवरण है।

(३) महाप्रज्ञापारमिता-सूत्र-कारिका शास्त्र (मो-ह-पो-यो-पो-लो मि-चिग्-शिह लुन्) कुमारजीव ने इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद सन ४०५ ई० में किया।

(४) उपाय-कौशल्य—न्याय-सम्बन्धी ग्रन्थ।

(५) प्रमाण विध्वंसन—यह भी न्याय-सम्बन्धी ग्रंथ है।

(६) विग्रह-व्यावर्तनी—शून्यवाद का खण्डन करने वाली युक्तियों का खण्डन। इसमें ७२ कारिकाएं हैं।

(७) चतुःस्तव—चार स्तोत्रों का संग्रह।

(८) युक्ति-षष्टिका—शून्यवाद के समर्थन में साठ युक्तियां।

(९) शून्यता-सप्तति—शून्यता पर सत्तर कारिकाएं।

(१०) प्रतीत्य-समुत्पाद-हृदय—प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन।

(११) महायान-विंशक—शून्यवाद का विवेचन।

(१२) सुहृल्लेख—जिसके विषय में यहां कुछ विस्तार से कहना है।

खेद है कि नागार्जुन की उपर्युक्त रचनाओं में से केवल माध्यमिक-कारिका (माध्यमिक-शास्त्र) और विग्रह-व्यावर्तनी ही अपने मूल संस्कृत रूप में सुरक्षित हैं। बाकी सब काल-कवलित हो गई हैं और केवल चीनी और तिब्बती अनुवादों में ही सुरक्षित हैं। यही हाल नागार्जुन की रचना प्रसिद्ध 'सुहृल्लेख' का है। 'सुहृल्लेख' का पूरा नाम है 'आर्य-नागार्जुन-बोधिसत्त्व-सुहृल्लेख'। 'सुहृल्लेख' के तीन चीनी और एक तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हैं। चीनी भाषा में 'सुहृल्लेख' का पहला अनुवाद गुणवर्मा ने ४२४-४३१ ई० में किया। दूसरा अनुवाद संघवर्मा द्वारा सन् ४३३ ई० के लग-भग किया गया इ-त्सिग् ने इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद सन् ७०० ई० के लगभग किया। इस प्रकार चीनी भाषा में 'सुहृल्लेख' के तीन अनुवाद किये गये। इ-त्सिग् ने लिखा है कि उसकी भारत-यात्रा के समय इस देश के प्रत्येक बालक को 'सुहृल्लेख' कण्ठस्थ होता था और बड़ी आयु के पुरुष बड़ी श्रद्धा से इसका अध्ययन-मनन करते थे। इतने प्रभूत नैतिक महत्त्व वाली रचना आज अपने मूल संस्कृत रूप में सुरक्षित नहीं है, यह बड़े दुःख की बात है। तिब्बती अनुवाद के आधार पर एच० वेंजेल ने 'जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट् सोसायटी', १८८६, में इस रचना का अंग्रेजी अनुवाद किया था। जर्मन अनुवाद भी इस महत्वपूर्ण रचना का सन् १८८६ में हो चुका है। क्या ही अच्छा हो यदि कोई भारतीय विद्वान् सीधे तिब्बती या चीनी अनुवाद से 'सुहृल्लेख' का संस्कृत और हिन्दी में फिर रूपान्तर करे, और इस देश के बालकों और बड़ी आयु वालों के लिए उसे सुलभ बनाये।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'सुहृल्लेख' को नागार्जुन ने अपने एक मित्र को पत्र के रूप में लिखा था और यह मित्र था सातवाहन (श-तो-पो-ह), जिसे यज्ञश्री गौतमी-पुत्र से अभिन्न माना गया है, जिसके विषय में पहले कहा जा चुका है। नागार्जुन का यह एक बड़ा दुर्भाग्य है कि उनके शून्यता-दर्शन को इस देश में कभी उसके ठीक रूप में नहीं समझा गया। उनके साहित्य की विलुप्ति भी इसका एक कारण रही है। आचार्य शंकर तक ने शून्यवाद को 'वैनाशिक समय' (उच्छेदवादी सिद्धान्त) कहकर उसके विवेचन तक के लिए आदर प्रदर्शित नहीं

किया है। अपने युग की सीमाओं से शंकर बंधे हुए थे और उनके लिए यह सम्भव नहीं था कि वे नागार्जुन की कृतियों से पूर्ण अवगति प्राप्त कर सकते। वस्तुतः नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित शून्यवाद अभावात्मक और विनाशात्मक नहीं है, उसने केवल (वेदान्त दर्शन से कुछ आगे बढ़ कर, शंकर-पूर्व युग में) यह दिखाया है कि बुद्धि द्वारा किया हुआ सब चिन्तन सविकल्प और सापेक्ष होता है और परमार्थ-सत्य उसकी पकड़ में नहीं आ सकता। दार्शनिक विवेचन के मोह को छोड़ कर हम केवल यहां यह दिखाना चाहेंगे कि शून्यवाद की नींव नैतिकता पर प्रतिष्ठित है। वह सबका विनाश नहीं चाहता, सबको मिथ्या बनाकर उड़ाना नहीं चाहता। उसके लिये जीवन में बहुत कुछ महत्त्वपूर्ण है, बहुत कुछ साधनीय है। वह जो कुछ है, उसके विषय में उनके दार्शनिक विरोधियों को भी विरोध नहीं हो सकता। वह अविरोध सत्य है जीवन की विशुद्धि का। इसकी झांकी नागार्जुन द्वारा अपने मित्र को लिखे गये पत्र के इन कतिपय अंशों से कीजिए—

"(६) धन चंचल और असार है। इसे धर्मानुसार भिक्षुओं, ब्राह्मणों, गरीबों और मित्रों को दो। दान से बढ़कर दूसरा मित्र नहीं है।

'(७) निर्दोष, उत्तम, अमिश्रित, निष्कलंक शील को जीवन में प्रकाशित करो। सभी प्रभुताओं का आधार शील है, जैसे कि चराचर जगत् का आधार पृथ्वी है।

"(८) दान, शील, सन्तोष, उद्योग, ध्यान और ज्ञान सम्बन्धी उत्तम शील का आचरण करो, ताकि भव के उस पार पहुंच कर तुम बुद्धत्व प्राप्त कर सको।

"(९) मात्सर्य, शठता, माया, राग, आलस्य, मान, राग और द्वेष को शत्रु-रूप समझो। इसी प्रकार परिवार, शरीर, यश और यौवन सम्बन्धी मद को शत्रु समझो।

"(१५) सन्तोष से अधिक दुर्लभ वस्तु और कोई नहीं है। क्रोध के लिए अपने जीवन में कभी अवकाश मत दो। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जो क्रोध को छोड़ देता है, उसे पुनर्जन्म में नहीं आना पड़ता, वह

अनागामी की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

"(२१) दूसरे की स्त्री पर दृष्टि न डालो। यदि तुम्हें कोई स्त्री दिखाई पड़ जाय, तो आयु के अनुसार उसे मां, बहिन या बेटी की तरह समझो।

"(२४) क्षणिक, चंचल छह इन्द्रियों को जीतने वाला और युद्ध-स्थल में अपने शत्रु-समूह पर विजय प्राप्त कर लेने वाला, इन दोनों में ज्ञानी लोग प्रथम को ही बड़ा वीर समझ कर उसकी प्रशंसा करते हैं।

"(२९) तुम इस संसार को जानते हो। इसलिए इनके लाभ और अलाभ, सुख और दुःख, मान और अपमान, स्तुति और निन्दा, इन आठ लौकिक वस्तुओं में समान चित्त से रहो।

"(३७) किन्तु उस एक स्त्री (अपनी पत्नी) को तुम अपने परिवार की अधिष्ठात्री देवी समझ कर सम्मान करना, क्योंकि वह बहिन की भांति सरल, मित्र की भांति विजयिनी, माता की भांति हित की कांक्षिणी और सेवक की भांति आज्ञाकारिणी है।

"(४०) मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की सतत भावना करो। इससे तुम्हें अधिक उच्चतर अवस्था की प्राप्ति न भी हो तो कम से कम ब्रह्म-विहार में तुम्हारी स्थिति सुनिश्चित है।

"(४१) काम-विचार, प्रीति, सुख और दुःख को छोड़कर तुम चार ध्यानों की भावना करो। इसके फल-स्वरूप तुम ब्रह्म-भाव में प्रतिष्ठित होगे।

"(४९) जब तुम कहते हो कि 'मैं रूप नहीं हूं,' तो इससे तुम्हें समझना चाहिये कि 'मैं रूपवान् नहीं हूं', 'रूप मुझमें नहीं है', 'मैं रूप में नहीं हूं', 'रूप मेरा नहीं है'। इसी प्रकार वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार के सम्बन्ध में भी तुम्हें समझना चाहिए।

"(५०) ये स्कन्ध न इच्छा से, न काल से, न प्रकृति से, न स्वभाव से, न ईश्वर से उत्पन्न होते हैं और न बिना हेतु के ही उत्पन्न होते हैं।

"(५१) जानो कि धार्मिक कर्मकाण्ड में लगे रहना, मिथ्या-दर्शन और संशय, ये तीन बेड़ियां हैं।

"(५३) उत्तरोत्तर उच्च शील, समाधि और प्रज्ञा का अभ्यास

करो। जानो कि प्रातिमोक्ष के १५० नियम सम्पूर्णतः इन तीन में अन्त-र्भावित हैं।

"(५८) यहां सभी कुछ अनित्य, अनात्म, अ-शरण, अ-नाथ और अ-स्थान है। इसलिए तुम इस तुच्छ केले के तने के समान असार जगत् से विरति धारण करो।

"(१०४) यदि तुम्हारे सिर में आग लग रही हो और वह सारे कपड़ों में फैल जाय, तो तुम उस आग को बुझाने का प्रयत्न करोगे। इसी प्रकार तुम इच्छा को नष्ट करने का प्रयत्न करो। इससे अधिक आवश्यक कार्य और कोई नहीं है।

"(१०५) शील, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा शान्त पद निर्वाण को प्राप्त करो, जो अजर और अमर है और जहां न धरती है, न जल, न आग, न हवा, न सूर्य, न चन्द्रमा।

"(१०७) जहां प्रज्ञा नहीं है, वहां ध्यान भी नहीं है। जहां ध्यान नहीं है, वहां प्रज्ञा भी नहीं है। लेकिन जानो कि जिसमें ध्यान और प्रज्ञा दोनों हैं, उसके लिये यह भव-सागर रमणीय निकुंज जैसा है।"

: २० :

ध्यान-सम्प्रदाय

छठी शताब्दी ईसवी में एक आदमी हिन्दुस्तान से चीन में गया। वह अपने साथ न कोई शास्त्र ले गया और न सूत्र। न उसने कोई ग्रन्थ लिखा और न कभी किसी को कोई धर्मोपदेश ही किया। पहले लोगों ने उसे विक्षिप्त समझा और उसकी उपेक्षा की। उसने भी कभी किसी से समझने योग्य भाषा में बातें नहीं कीं। नौ वर्ष तक वह एक मठ में ध्यान करता रहा और एक दिन बिना किसी से कुछ कहे-सुने चल दिया। लोगों ने देखा कि साधु पर्वतों के मार्ग में नंगे पैर चला जा रहा है और एक जूता हाथ में लिए है। पता नहीं वह भारत लौटकर आया या चीन में ही मर गया, परन्तु इतना मालूम है कि यही वह आदमी

है जो चीन और जापान के धार्मिक इतिहास में अपनी अमिट छाप छोड़ गया है और उसने अध्यात्म-साधना की एक ऐसी गतिशील शक्ति पैदा की है जिसका प्रभाव न केवल सम्पूर्ण पूर्वेशिया की संस्कृति, कला, साहित्य, दर्शन और जीवन-विधि पर व्यापक रूप से अंकित है, बल्कि जो विचारशील साधकों के जगत् में आज दूर-दूर तक प्रसारगामी हो रहा है।

आचार्य बोधिधर्म एक विलक्षण योगी थे। वे एक भारतीय बौद्ध भिक्षु थे जिन्होंने सन् ५२० या ५२६ ई० में चीन में प्रवेश किया। दक्षिण-भारत के कांचीपुरम् के क्षत्रिय (एक अन्य परम्परा के अनुसार ब्राह्मण) राजा सुगन्ध के वे तृतीय पुत्र थे। उनके गुरु का नाम प्रज्ञातर था, जिनके आदेश पर वे चीन गये। बोधिधर्म ने अपनी यात्रा समुद्र द्वारा की और उसमें कुल तीन वर्ष लगे। वे चीन के दक्षिणी समुद्र-तट पर केण्टन बन्दरगाह में उतरे। बोधिधर्म बौद्ध भिक्षु थे, परन्तु उनकी आकृति में सौम्यता न थी और न व्यवहार में शिष्टता। सभ्य-जगत् के मानदण्डों से वे ऊपर थे और उन्हें किसी की चिन्ता न थी। उनके रूप में कुछ विकरालता थी। बढ़ी हुई काली दाढ़ी, तनी हुई भृकुटियां और अन्तर्वेधिनी बड़ी-बड़ी आंखें! देखने में बड़े कठोर आदमी मालूम पड़ते थे। लोगों के पूछने पर उन्होंने अपनी आयु १५० वर्ष बताई। भारत से एक वृद्ध भिक्षु आया है, यह सुनकर उत्तरी चीन के तत्कालिक राजा वू-ति ने उनके दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म चीन में द्वितीय शताब्दी ईसवी के मध्य-भाग में ही व्यवस्थित रूप से प्रवेश पा चुका था और वू-ति एक श्रद्धा-वान् बौद्ध उपासक था। उसने बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए अनेक कार्य किए थे। अनेक विहार बनवाए थे और संस्कृत बौद्ध ग्रंथों के चीनी अनुवाद कराए थे। वह अपने पुण्य कार्यों के लिए भिक्षु का अनुमोदन और आशीर्वाद चाहता था। नानकिंग् में बोधिधर्म की सम्राट् वू-ति से भेंट हुई और दोनों में इस प्रकार संलाप चला—

वू-ति—भन्ते! मैंने अनेक विहार बनवाए हैं, संस्कृत धर्म-ग्रन्थों की प्रतिलिपियां करवाई हैं और अनेक लोगों को भिक्षु बनने की अनु-

मति दी है। क्या मेरे इन कामों में कोई पुण्य है ?

बोधिधर्म—बिल्कुल कोई नहीं।

वू-ति—तब फिर वास्तविक पुण्य क्या है ?

बोधिधर्म—विशुद्ध प्रज्ञा, जो सूक्ष्म, पूर्ण, शून्य और शान्त है। परन्तु इस पुण्य की प्राप्ति इस संसार में सम्भव नहीं है।

वू-ति—पवित्र धर्म के सिद्धान्तों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कौन-सा है ?

बोधिधर्म—जहां सब शून्यता है, वहां पवित्र कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

वू-ति—तब फिर मेरे सामने बात कौन कर रहा है ?

बोधिधर्म—मैं नहीं जानता !

उपर्युक्त संवाद के आधार पर हम बोधिधर्म को रुक्ष स्वभाव का मनुष्य मान सकते हैं। कुछ-कुछ अशिष्ट भी। सम्राट् के प्रति कुछ आदर दिखाना तो दूर, उन्होंने उसके पुण्य कार्यों का भी अनुमोदन नहीं किया। जिन कार्यों को बौद्ध शास्त्रों में पुण्यकारी कृत्य बताया गया है, उनको वैसा न बताकर उन्होंने सम्राट् के मन में बुद्धि-भेद पैदा किया, उसे विभ्रमित किया। धार्मिक राजा की भावनाओं का उन्होंने कुछ भी आदर नहीं किया। बौद्ध धर्म के प्रचार में भी कुछ दिलचस्पी नहीं ली। परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। बोधिधर्म के उत्तर ऊपर से रुक्ष और अशिष्ट दिखाई देने पर भी सम्राट् के प्रति करुणा से ओत-प्रोत हैं और बौद्ध धर्म के उच्चतर सत्य की ओर उसे ले जाने वाले हैं। उन्होंने अपने विलक्षण कठोर ढंग में उसे यही बताया कि विहार बनवाना और अन्य पुण्य कार्य करना अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं, क्योंकि वे अनित्य हैं, छाया के समान असत्य हैं। इस प्रकार अहंभाव से सम्राट् को बचाकर शून्यता के उच्च सत्य का उन्होंने उसे उपदेश दिया। उन्होंने उससे उस अद्वय सत्य की ओर इशारा किया जो पुण्य और पाप, पवित्र और अपवित्र के द्वन्द्वात्मक विचारों से अतीत है। बोधिधर्म के व्यवहार में एक असाधारण गौरव का भाव है जिसे कोई इच्छाओं वाला मनुष्य या जिसे अपनी सत्य-प्राप्ति पर गहरा विश्वास न हो,

सम्राट् के सामने प्रकट नहीं कर सकता था ।

चीनी सम्राट् के साथ उपर्युक्त संवाद के बाद बोधिधर्म ने समझ लिया कि उसे उनसे अधिक लाभ होने वाला नहीं है और न वह उन्हें समझ ही सकेगा । इसलिए उसके दरबार को छोड़कर वे चीन के वेई नामक राज्य में में चले गए, जहां उनका अधिकतर समय इस राज्य की राजधानी लो-याङ् के 'शाश्वत शान्ति' ('श्वा-लिन्') नामक बौद्ध विहार में बीता । इस विहार का निर्माण पांचवीं शताब्दी ईसवी के प्रथम भाग में किया गया था । बोधिधर्म इस विहार के प्रथम दर्शन करते ही मन्त्र-मुग्ध जैसे हो गए थे । 'नमो' कहते हुए वे हाथ जोड़े चार दिन तक इस विहार के सामने खड़े रहे । उनका कहना था कि उन्होंने कई देशों में भ्रमण किया है, परन्तु इस प्रकार का भव्य और प्रभावपूर्ण विहार उन्होंने कहीं नहीं देखा, बुद्ध के देश (भारत) में भी नहीं । यहीं नौ वर्ष तक बोधिधर्म ने ध्यान किया । उनके ध्यान करने की एक बाह्य विशेषता यह थी कि वे दीवार के सामने मुंह करके ध्यान करते थे । इसलिए चीन में वे 'दीवार की ओर ताकने वाले ब्राह्मण' के रूप में प्रसिद्ध हो गए । लो-याङ् के जिस मठ में बोधिधर्म ने ध्यान किया, वह आज भी कुछ भग्न अवस्था में विद्यमान है और ध्यान-सम्प्रदाय के भिक्षुओं का एक छोटा-सा संघ वहां आज भी निवास करता है ।

आचार्य बोधिधर्म ने चीन में बौद्ध धर्म के ध्यान-सम्प्रदाय की स्थापना की । यह काम उन्होंने स्थूल व्यवस्था-बद्ध संघ के रूप में नहीं, बल्कि चेतना के आन्तरिक धरातल पर किया । उन्होंने लम्बे काल तक मौन रहकर चीनी मन का अध्ययन किया, बड़ी कठोर और निर्मम परीक्षा लेकर कुछ अधिकारी व्यक्तियों को चुना, अपने मन से उनके मनों को, बिना कुछ बोले हुए, शिक्षित किया, सत्य का सन्देश उनकी चेतना में प्रेषित किया और जब यह काम हो गया तो स्वयं अन्तर्हित हो गए । भारतीय ज्ञान अपने देशकालज व्यक्तित्व को खोकर चीनी मानस में समा गया । वह चीनी शरीर की धमनियों का रक्त बनकर प्रवाहित होने लगा, उसकी अपनी आध्यात्मिक संस्कृति का अंग बन

गया। यही काम बाद में जापान में हुआ। आचार्य बोधिधर्म के जीवन का कार्य यही है।

बौद्ध साधना-पद्धति में ध्यान का केन्द्रीय स्थान है। शील (सदाचार) के बाद समाधि (ध्यान) और समाधि के अभ्यास से प्रज्ञा (परम ज्ञान) की प्राप्ति। इतना ही बौद्ध-धर्म है। इस प्रकार शील और प्रज्ञा के बीच में ध्यान की स्थिति है। जिसने जीवन में सदाचार का विकास नहीं किया है, उसका चित्त कभी समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता और जिसे चित्त की समाधि प्राप्त नहीं है, वह प्रज्ञा की अधिगति से भी दूर है। बिना ध्यान के प्रज्ञा नहीं है और बिना प्रज्ञा के ध्यान नहीं है। साधना की यह भूमिका बौद्ध धर्म के सभी रूपों को मान्य है। अतः सभी ने शास्ता के द्वारा सिखाई हुई ध्यान-पद्धति का अभ्यास अपनी-अपनी धातु और प्रकृति के अनुसार किया है। 'भिक्षुओ ! ध्यान करो। प्रमाद मत करो।' भगवान् की इस उद्बोधन-वाणी को सब युगों के बौद्ध साधकों ने सुना है। शमथ और विदर्शना की साधना सब बुद्ध-पुत्रों की सामान्य विचरण-भूमि है।

जबकि ध्यान की महिमा बौद्ध धर्म के सभी रूपों में सुरक्षित है, 'ध्यान' नाम से एक विशिष्ट बौद्ध सम्प्रदाय की स्थापना और विकास चीन और जापान की धर्म-साधना की एक विशेषता है, जिसका वहां बीजारोपण करने वाले, जैसा हम अभी कह चुके हैं, आचार्य बोधिधर्म थे। भारतीय बौद्ध धर्म के लिखित इतिहास में हमें उसके किसी ध्यान-सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं मिलता। न तो अशोक के काल तक उत्पन्न अष्टादश निकायों में उसका कहीं उल्लेख है और न उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों में उसके अस्तित्व के कहीं चिन्ह हैं, यद्यपि योगाचार (जिसका अर्थ ही योग का आचार या अभ्यास है) मत उसी की तरह योग (ध्यान) की साधना पर अवलम्बित था। यद्यपि पृथक् ध्यान-सम्प्रदाय की विद्यमानता के लिखित प्रमाण हमें नहीं मिलते, परन्तु उसकी परम्परा बुद्ध के काल से ही भारत में अवश्य चली आ रही थी, ऐसा हम चीनी परम्परा के आधार पर कह सकते हैं। आचार्य बोधिधर्म ने चीन में बताया कि ध्यान के गूढ़ रहस्यों का उपदेश भगवान्

बुद्ध ने अपने शिष्य महाकाश्यप को दिया था, जिन्होंने उसे आनन्द को बताया। इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय के आदि आचार्य महाकाश्यप थे और दूसरे आचार्य आनन्द। उसके बाद इस परम्परा में २६ आचार्य और हुए, जिनमें अन्तिम बोधिधर्म थे। इस प्रकार बोधिधर्म भारतीय ध्यान-सम्प्रदाय के अट्ठाईसवें और अन्तिम आचार्य थे। चीनी (और जापानी) ध्यान-सम्प्रदाय के वे प्रथम धर्मनायक हुए। उनके बाद चीन में पांच और धर्मनायक उनके शिष्यानुक्रम में हुए। उसके बाद ध्यान-सम्प्रदाय अपनी परिपूर्णता को प्राप्त हुआ और स्वयं बोधिधर्म द्वारा दिये गये आदेश के अनुसार धर्मनायकों की प्रथा समाप्त कर दी गई।

बोधिधर्म के शिष्य और उनके प्रथम उत्तराधिकारी का नाम शैन्-क्वांग् था, जिसे अपना शिष्य बनाने के बाद बोधिधर्म ने 'हुइ-के' बौद्ध नाम दिया, जिसका अर्थ है "ज्ञानी-अधिकारवान्।" शैन्-क्वांग् कनफूसी धर्म को मानने वाला एक महापण्डित था। योगी के रूप में बोधिधर्म की ख्याति सुनकर वह उनसे मिलने के लिए उस विहार में आया, जहां बोधिधर्म ध्यान करते थे। सात दिन तक वह दरवाजे पर खड़ा रहा, परन्तु बोधिधर्म ने उसे मिलने की अनुमति नहीं दी। जाड़े का मौसम था और बरफ पड़ रही थी। परन्तु शैन्-क्वांग् भी संकल्पवान् पुरुष था। कहा जाता है कि उसने अपनी बांई बांह काटकर बोधिधर्म के पास यह दिखाने के लिए भिजवा दी कि वह उनका शिष्यत्व पाने के लिए अपने शरीर का भी बलिदान कर सकता है। शैन्-क्वांग् को भीतर जाने की अनुमति मिली। गुरु ने उसका समाधान किया, शब्दों से नहीं, मन के द्वारा मन से। शैन्-क्वांग् ने बिलखते हुए कहा—"भन्ते! मुझे मन की शान्ति नहीं है। मेरे मन को आप कृपा कर शान्त करें।" बोधिधर्म ने उसे कठोरतापूर्वक उत्तर दिया, "अपने मन को निकाल कर यहां मुझे दे। मैं उसे शान्त करूंगा।" शैन्-क्वांग् ने और भी रोते हुए कहा, "मैं अपने मन को कैसे निकाल कर आपको दे सकता हूं?" इस पर कुछ नरम होते हुए और उस पर अनुकम्पा करते हुए बोधिधर्म ने उससे कहा, "तो मैं तेरे मन को शान्त कर

चुका हूं।" तत्काल शैन्-क्वांग् को शान्ति अनुभव हुई। उसके सारे सन्देह दूर हो गये। बौद्धिक संघर्ष सदा के लिए मिट गए। बोधिधर्म ने उसे अपना शिष्य बनाया और, जैसा पहले कहा जा चुका है, उसे 'हुइ-के' नाम दिया। हुइ-के ध्यान-सम्प्रदाय के चीन में द्वितीय धर्म-नायक हुए। बोधिधर्म के पास जो कुछ था, वह सब उन्होंने हुइ-के को दे दिया। अब सब काम चीनियों को चीनियों के लिए करना था। चीनी परम्परा में सुरक्षित लेखों के अनुसार बोधिधर्म ने अपने शिष्य हुइ-के से कहा था, "मैं भारत से इस पूर्वी देश में आया हूं और मैंने देखा है कि इस चीन देश में मनुष्य महायान बौद्ध धर्म की ओर अधिक प्रवण हैं। मैंने दूर तक समुद्री यात्रा की है और मैं रेगिस्तानों में भटका हूं, केवल इस उद्देश्य के लिए कि मुझे कहीं अधिकारी व्यक्ति मिलें, जिन्हें मैं अपना अनुभव प्रेषित कर सकूं। जब तक मुझे इसके उपयुक्त अवसर न मिले, मैं मौन रहा, जैसे कि मैं बोलने में असमर्थ गूंगा होऊं। अब मुझे तुम मिल गए हो। मैं तुम्हें यह दे रहा हूं और मेरी इच्छा अन्ततः पूरी हो चुकी है।"

चीन में ध्यान-सम्प्रदाय के छठे और अन्तिम धर्म-नायक हुइ-नैंग् (६३८-७१३) नामक अनुभवी महात्मा थे। उन्होंने ध्यान-सम्प्रदाय को उसका विशिष्ट चीनी स्वरूप प्रदान किया। उन्होंने अपने पीछे एक ग्रन्थ भी छोड़ा है जो उनके प्रवचनों का संग्रह है, जिसे उनके मुख से सुनकर उनके एक शिष्य ने लिखा था। इस ग्रन्थ का पूरा नाम है "छठे धर्मनायक द्वारा भाषित धर्म-रत्न-सूत्र"। संक्षेप में इसे "छठे धर्मनायक का सूत्र" भी कहते हैं। चूंकि इस ग्रन्थ में निहित उपदेश भिक्षुओं के उपसम्पदा-संस्कार के लिए निर्मित एक मंच पर बैठकर दिए गये थे, इसलिए इसका एक नाम 'धर्म-निधि-मंच-सूत्र' या संक्षेप में 'मंच-सूत्र' भी है। 'सूत्र' शब्द का प्रयोग साधारणतः बुद्ध या बोधिसत्वों के द्वारा दिए गए उपदेश के लिए होता है। अतः हुइ-नैंग् द्वारा भाषित इस प्रवचन को 'सूत्र' नाम देकर चीनी परम्परा में उसको असाधारण सम्मान दिया गया है। चीनी बौद्ध महात्माओं में यह सम्मान केवल हुइ-नैंग् को ही मिल सका है। 'मंच-सूत्र' या 'छठे धर्मनायक का सूत्र' विश्व के साधनात्मक साहित्य

की एक अमर रचना है। इस 'सूत्र' के आरम्भ में हुइ-नैंग् ने यह बताया है कि ध्यान-बौद्धधर्म में उन्हें श्रद्धा किस प्रकार उत्पन्न हुई। उन्होंने हमें बताया है वह कि एक अपढ़ लकड़हारे थे। बाल्यावस्था में ही उनके पिता की मृत्यु हो गई थी और वह लकड़ी बेचकर अपना और अपनी वृद्धा माता का गुजारा करते थे। एक दिन जब वह किसी घर में लकड़ी बेचकर लौट रहे थे तो बाहर सड़क पर उन्होंने किसी को वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता सूत्र से कुछ अंश पढ़ते सुना। अचानक उनकी अन्तर्दृष्टि जाग पड़ी। उन्होंने मालूम किया कि जो आदमी सूत्र से कुछ अंश पढ़ रहा था, वह किसी संघाराम से आया था, जहां 'ध्यान'-बौद्धधर्म के पांचवें धर्म-नायक हुंग्-जेन् पांच सौ भिक्षुओं के साथ रहते थे। हुइ-नैंग् वहां गये और हुंग्-जेन् के शिष्य हो गए। नवागत शिष्य को चावल कूटने का काम दिया गया। आठ महीने तक उसने यह काम किया। हुंग्-जेन् ने एक दिन अपने शिष्यों को सूचित किया कि वह अपना उत्तराधिकारी भिक्षु निश्चित करना चाहते हैं और जो भिक्षु ध्यान-बौद्धधर्म के मर्म को प्रकट करने वाली सर्वोत्तम गाथा लिखेगा उसे वह अपना उत्तराधिकारी चुन लेंगे। हुंग्-जेन् का एक अत्यन्त पण्डित शिष्य शेन्-सियु नामक भिक्षु था। उसने एक गाथा लिखी—

"शरीर बोधिवृक्ष के समान है,
और मन स्वच्छ दर्पण के समान;
हर क्षण हम उन्हें सावधानी से साफ करते हैं,
ताकि उन पर धूल न जम जाय।"

गुरु ने इस गाथा का अनुमोदन किया, परन्तु सर्वोत्तम गाथा उन्होंने हुइ-नैंग् द्वारा रचित मानी, जो इस प्रकार थी—

"नहीं है बोधि-वृक्ष के समान शरीर,
और न कहीं चमक रहा है स्वच्छ दर्पण,
तत्त्वतः सब कुछ शून्य है,
धूल जमेगी कहां?"

हुंग्-जेन् ने हुइ-नैंग् को अपना चीवर और भिक्षापात्र दिया और अपना उत्तराधिकारी बनाया। जैसा हम पहले कह चुके हैं, हुइ-नैंग्

चीन में ध्यान-बौद्धधर्म के छठे और अंतिम धर्म-नायक थे। उन्होंने अपना उत्तराधिकारी कोई धर्म-नायक नहीं बनाया और आगे के लिए भी आदेश दिया कि कोई धर्म-नायक न बनाया जाय। अपने शिष्यों से उन्होंने कहा, "तुम सब संशयों से रहित हो। इसलिए तुम सब इस सम्प्रदाय के उच्च उद्देश्यों को कार्यान्वित करने में समर्थ हो।" बोधि-धर्म के शब्दों को हुइ-नेंग् ने अपने शिष्यों को सुनाते हुए कहा, "चीन में मेरे आने का उद्देश्य उन सब लोगों को मुक्ति का सन्देश प्रेषित करना था, जो मोह में पड़े हुए थे। पांच पंखुड़ियों में यह फूल पूरा होगा। उसके बाद स्वाभाविक रूप से फल परिपक्व होगा।" बोधिधर्म की भविष्यवाणी सर्वांश में सत्य निकली। बौद्ध ध्यानी सन्तों के ज्ञान का चरम विकास जिन शताब्दियों—(सातवीं से लेकर चौदहवीं) के बीच हुआ, वही चीनी संस्कृति की स्वर्ण-युग मानी जाती हैं।

ध्यान के जिस सन्देश को बोधिधर्म ने शैन्-क्वांग् को दिया और जो तब से अब तक बराबर चीन, जापान और कोरिया में विकसित होता चला आ रहा है, क्या है? यह सन्देश है स्वानुभव से बोधि को अपने जीवन के अन्दर उतारने का योग। लगभग सातवीं शताब्दी ईसवी के एक अज्ञात ध्यानी सन्त ने उसे इन शब्दों में व्यक्त किया है :

> **"शास्त्रों से बाहर एक विशेष संप्रेषण,**
> **शब्दों और वर्णों पर कोई निर्भरता नहीं;**
> **मनुष्य की आत्मा की ओर सीधा संकेत,**
> **अपने ही स्वभाव के अन्दर देखना और बुद्धत्व प्राप्त कर लेना।"**

परन्तु बोधिधर्म ने इसकी ओर केवल इंगित किया, उंगली से उसकी ओर इशारा भर किया, उसके मार्ग का विकास चीन और जापान के साधकों ने स्वयं अपने लिए किया है। 'ध्यान' शब्द का चीनी रूपान्तर 'छान्' है और जापानी 'ज़ेन्'। अतः क्रमशः 'छान्-सुंग्' और 'ज़ेन्-शू' के नाम से बौद्ध धर्म का यह सम्प्रदाय चीन और जापान में प्रसिद्ध है। जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश वैसे छठी शताब्दी में ही हो गया था, परन्तु ध्यान-निकाय की विधिवत् स्थापना वहां बारहवीं शताब्दी में हुई,

जब से वह वहां के निवासियों की नस-नस में समा चुका है। चीनी मस्तिष्क भारतीय मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक है, अतः वहां दैनिक जीवन की क्रियाओं को करते हुए अन्तर्दृष्टि के विकास पर अधिक जोर दिया गया है। परम्परागत मान्यताओं के बन्धन से मानव-मन को मुक्त करने का ध्यानवादी आचार्य भरसक प्रयत्न करते हैं। धार्मिक ग्रंथों में उनकी अधिक आस्था नहीं है, क्योंकि वे स्वानुभव चाहते हैं, जो शास्त्र और सूत्र नहीं दे सकते। फिर भी ध्यान बौद्ध-धर्म के अनुयायी लंकावतार-सूत्र को अपना आधारभूत धार्मिक ग्रंथ मानते हैं, वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता-सूत्र का भी पारायण करते हैं और प्रज्ञापारमिता-हृदय-सूत्र का पाठ तो ध्यान-सम्प्रदाय के प्रत्येक मठ में प्रतिदिन प्रातः किया जाता है। चीनी मन की स्वाभाविक हास्य-भावना की अभिव्यक्ति भी ध्यान-सम्प्रदाय की अनेक बातों में हुई है और इस सम्प्रदाय के आचार्यों और साधकों के जो चित्र खींचे गए हैं, वे प्रायः व्यंग्य-चित्र जैसे हैं। हास्य की भावना को जितना अधिक महत्त्व ध्यान-सम्प्रदाय की साधना में मिला है, उतना शायद ही अन्य किसी धर्म-साधना में मिला हो। ध्यानी सन्त बड़े मौजी स्वभाव के होते हैं। वस्तु-गत जगत् की वे अधिक परवाह नहीं करते। जीवन की हर वस्तु उनके लिए गम्भीर है और साथ ही एक बड़ा मजाक भी। वे गरीबी में आनन्द लेते हैं और अपने प्रति पूज्य बुद्धि न आने देने के लिए वे अपने को व्यंग्य और हास्य के पात्र के रूप में चित्रित करते हैं। ध्यानी गुरुओं की शिक्षा-पद्धति में शिष्यों को चांटे लगाने की एक प्रथा-सी है। इससे वे अंतर्दृष्टि को जगाने का प्रयत्न करते हैं। इसी उद्देश्य के लिए वे डंडे से भी प्रहार करते हैं, शिष्यों को धक्का भी देते हैं और गालियां भी देते हैं। सहज अनुभूति पर ध्यान-सम्प्रदाय में जोर है, अतः उसके साधक सिद्धान्तवाद में अधिक विश्वास नहीं करते। सत्य को वे विचार के द्वारा गम्य नहीं मानते। अतः शब्दों को वे सत्य की अभिव्यक्ति का अत्यन्त निर्बल साधन मानते हैं। भाषा की इसी कठिनाई के कारण वे परम सत्य की अभिव्यक्ति के लिए प्रायः उलटबांसियों या उल्टी भाषा का प्रयोग करते हैं, जैसे हमारे देश में उसी उद्देश्य के लिए कबीर ने किया

था। "नैया बिच नदिया डूबति जाइ।" कबीर साहब ने कहा था। उनसे करीब एक हजार वर्ष पूर्व के ध्यानी सन्त फुदायशी (४९७-५६९ ई०) की एक प्रसिद्ध गाथा है :

मैं खाली हाथ चला जा रहा हूं, देखो
मेरे हाथ में एक फावड़ा है।
मैं पैदल चला जा रहा हूं, फिर भी
एक बैल की पीठ पर मैं सवार हूं।
जब मैं पुल से पार हो रहा हूं,
तो देखो, पानी बहता नहीं,
पर पुल बहा जा रहा है।

इस प्रकार की उलटवांसियां चीन और जापान के ध्यान-बौद्धधर्म के साहित्य में भरी पड़ी हैं। "धूल का बादल समुद्र से उठ रहा है", "जब दोनों हाथों से ताली बजाते हैं तो शब्द होता है, एक हाथ की ताली का शब्द सुनो", "यदि तुमने एक हाथ का शब्द सुना है, तो क्या उसे मुझे सुना सकते हो ?" लगता है कि 'एक हाथ का शब्द' जिसे ध्यानी साधक सुनना चाहता है, अद्वैत के अनुभव का आनन्द ही है, जिसके बारे में ध्यान-योगी अधिकतर कहते सुने जाते हैं। हममें से बहुतों को यह भी लोभ हो सकता है कि एक हाथ की ताली के शब्द को हम अनहद नाद समझें, परन्तु इससे हमें बचना चाहिए। हिन्दी-साहित्य में उद्घाटित हठ-योग की, छह चक्रों और कुण्डलिनी-योग वाली, साधना से ध्यान-बौद्ध धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके लिए हमें बौद्ध धर्म के एक अन्य रहस्यवादी सम्प्रदाय मन्त्र-यान की ओर जाना पड़ेगा, जिसका भी चीन और जापान में प्रचार है। जहां तक ध्यान-सम्प्रदाय का सम्बन्ध है, उल्टी भाषा का प्रयोग केवल यह दिखाने के लिए किया गया है कि साधारण मानवीय तर्क मनुष्य की गम्भीरतम आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता और उसके लिए विरोधात्मक भाषा आवश्यक हो जाती है। मनुष्य को उसके पालित मिथ्या विश्वासों से चौंकाने के लिए, विचार के लिए उसे असाधारण प्रेरणा देने के लिए, इस प्रकार के विरोधात्मक कथनों का

प्रयोग ध्यानी सन्तों ने किया है। परम सत्य को वे अनिर्वचनीय मानते हैं। 'अस्ति' और 'नास्तिकी' कोटियों में उसे नहीं बांधा जा सकता। वह उनसे अतीत है। एक ध्यानी संत का कहना है, "जब मैं कहता हूं 'यह नहीं है' तो इसका अर्थ निषेध नहीं है। इसी प्रकार जब मैं कहता हूं कि 'यह है' तो इसका अर्थ 'हां' कहना नहीं है। पूर्व की ओर मुड़ो और वहीं पश्चिमी देश को देखो। दक्षिण की ओर मुंह करो और वहीं तुम्हें उत्तरी ध्रुव दिखाया जा रहा है।" ध्यान-बौद्धधर्म के एक गुरु ने अपने शिष्यों को एक घड़ा दिखाकर कहा कि 'इसे घड़ा कहकर मत पुकारो, परन्तु मुझे बताओ कि यह क्या है ?" एक शिष्य ने उत्तर दिया, "यह लकड़ी का टुकड़ा नहीं कहा जा सकता।" यह उत्तर गुरु को नहीं जंचा। दूसरे शिष्य ने हल्के से धक्का देकर घड़े को नीचे गिरा दिया और चुपचाप चलता बना। यही उत्तर ध्यान-बौद्धधर्म की भावना के अनुसार ठीक था। वस्तु की अनुभूति उसकी दार्शनिक व्याख्या से बड़ी वस्तु है। एक अन्य गुरु ने अपने शिष्यों को एक लकड़ी दिखाई और कहा, "यदि तुम इसे लकड़ी कहो तो तुम 'अस्ति' कहते हो, यदि तुम इसे लकड़ी न कहो तो 'नास्ति' कहते हो। मत 'अस्ति' कहो, मत 'नास्ति' कहो। अब बताओ यह क्या है ? बोलो, बोलो !" शिष्यों में निस्तब्धता थी। वस्तुएं निःस्वभाव और अव्यपदेश्य हैं। बौद्धिक विश्लेषण पर जोर न देकर हमें अपरोक्षानुभूति प्राप्त करनी चाहिए। नवीं शताब्दी के सिग्-पिग् नामक एक विद्यार्थी ने अपने गुरु सुई-वी से पूछा "बौद्ध धर्म का आधारभूत सिद्धान्त क्या है ?" गुरु ने कहा, "ठहर ! जब आसपास कोई नहीं होगा तब मैं तुझे अकेले में बताऊंगा।" कुछ देर बाद शिष्य ने गुरु को फिर याद दिलाई, "भन्ते ! अब यहां कोई नहीं है। मुझे बताइये।" अपने आसन से उठकर गुरु शिष्य को बाँसों के वन में ले गया और कुछ न बोला। जब शिष्य ने उत्तर के लिए आग्रह किया तो गुरु ने उसके कान में कहा, "देख, ये बांस कितने लम्बे हैं। और देख, वहां वे कितने छोटे हैं !" इस प्रकार पहेलियों में उपदेश देने की, ध्यान-बौद्धधर्म के गुरुओं की एक प्रथा-सी रही है। इसी संकेतात्मक शैली का एक और उदाहरण लीजिये। एक

शिष्य अपने गुरु से विदाई लेने गया। गुरु ने पूछा, "कहां जाना चाहते हो ?" शिष्य ने उत्तर दिया, "मैं बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए आपके पास आकर भिक्षु बना हूं, परन्तु आपने मुझे कभी अपने उपदेश से लाभान्वित नहीं किया। अब मैं आपको छोड़कर किसी और जगह अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए जाना चाहता हूं।" गुरु ने उत्तर दिया, "यदि बौद्ध धर्म को सिखाने की बात है तो मैं कुछ अल्प तुम्हें सिखा सकता हूं।" जब शिष्य ने उसे बताने के लिए कहा, तो गुरु ने अपने चोगे में से एक बाल निकाला और उसे फूंक मार कर उड़ा दिया। शिष्य को तत्काल अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो गई। एक जापानी ध्यान-योगी से जब उसके शिष्य ने पूछा कि "बुद्ध क्या है?" तो इसका पहेली में उत्तर देते हुए गुरु ने कहा था, "दुलहिन गधे पर बैठी हुई है और उसकी सास लगाम पकड़े है।" छठी शताब्दी ईसवी की बात है कि चीनी सम्राट् वू ने ध्यान-सम्प्रदाय के गुरु फ-ति शिह् से किसी बौद्ध सूत्र पर प्रवचन करने की प्रार्थना की। गुरु महाराज गम्भीरतापूर्वक आसन पर विराजमान हो गए, परन्तु एक शब्द भी उच्चारण नहीं किया। सम्राट् ने कहा, "भन्ते ! मैंने आपसे प्रवचन करने की प्रार्थना की थी, आप बोलना आरम्भ क्यों नहीं करते ?" इस पर पास ही खड़े एक ध्यानी शिष्य ने सम्राट् से कहा, "गुरु महाराज उपदेश समाप्त कर चुके हैं।" इसके सम्बन्ध में एक ध्यानी आचार्य ने टिप्पणी करते हुए कहा है, "कितना वक्तृतापूर्ण था वह प्रवचन !"

ध्यान-सम्प्रदाय में शरीर और मन की एक लम्बी साधना का विधान है, जिसे उपयुक्त गुरु के पास सीखना होता है। शरीर और मन का समाधान प्राप्त करने के लिए वर्षों लग सकते हैं और फिर भी वह दृष्टि प्राप्त न हो जिसे ध्यान-सम्प्रदाय देना चाहता है। फिर भी ध्यान-बौद्धधर्म की मान्यता है कि ज्ञान जब होता है तो एक पल भर में हो सकता है। कबीर साहब ने कहा था, "ढूंढ़ा होइ तो मिलिहै बन्दे पल भर की तलास में"। ध्यान-योगियों का अनुभव है कि ढूंढ़ता-ढूंढ़ता थका हुआ मन कभी-कभी उसे 'पल भर की तलास में' पा जाता है। आत्मानुभूति द्वारा सत्य में इस आकस्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने

को जापानी भाषा में 'सटोरी' कह कर पुकारा जाता है।

ध्यान-सम्प्रदाय यद्यपि महायान के तथता या शून्यता के तत्त्वज्ञान पर आधारित है, परन्तु वह निश्चयतः अद्वैत की ओर भी प्रगमन करता है, जो प्रज्ञापारमिताओं के दर्शन में आरम्भ से ही अन्तर्हित था। जब एक शिष्य ने गुरु से पूछा, "बुद्ध क्या है ?" तो गुरु ने कहा, "यदि मैं तुम्हें बताऊं तो क्या तुम विश्वास करोगे ?" शिष्य ने उत्तर दिया, "यदि आप मुझे सत्य बताएंगे तो मैं कैसे नहीं विश्वास करूंगा !" गुरु ने उसे अलग ले जाकर कहा "**तुम वह हो।**" "तत्त्वमसि" का पूर्ण शाब्दिक अनुवाद, जो अनुभूति की समानता से उपनिषद् के ऋषि के समान चीनी साधक को स्वतः प्राप्त हो गया है। केवल शब्दों के द्वारा सत्य को समझने के प्रयत्न का ध्यान-सम्प्रदाय के साधक विरोध करते हैं। वे मन को अन्तर्मुखी करने पर जोर देते हैं और इसी से सत्य का दर्शन सम्भव मानते हैं। सत्य-प्राप्ति के बाद उसकी मौखिक घोषणा वे आवश्यक नहीं मानते। फू नामक एक जापानी बौद्ध भिक्षु निर्वाण-सूत्र पर प्रवचन करता हुआ धर्म-काय की व्याख्या कर रहा था। उसका शास्त्रीय ज्ञान पूर्ण और निर्दोष था, परन्तु उसे स्वयं अनुभव नहीं था। उसके प्रवचन को सुनकर यंग्-चाऊ नामक एक ध्यानी सन्त को हँसी आ गई। विद्वान् भिक्षु को सन्देह हुआ कि उसने कोई गलत व्याख्या की है, इसलिए उसे समझने के लिए वह हँसने वाले ध्यानी सन्त के पास गया। ध्यानी सन्त ने कहा, "तुम्हारी व्याख्या में कोई दोष नहीं था। मैं यह देखकर हँसा कि जिस वस्तु का तुम विवेचन कर रहे हो, उसका अपरोक्ष, सीधा ज्ञान तुम्हें नहीं है।" "तो क्या तुम मुझे बता सकते हो कि वह वस्तु क्या है?" "क्या तुम मुझ पर विश्वास करोगे?" "क्यों नहीं ?" "अच्छा तुम शास्त्र के प्रवचन और अध्ययन को कुछ समय के लिए छोड़ो। दस दिन के लिए अपने कमरे में बन्द हो जाओ। गर्दन सीधी कर शान्त होकर बैठो और अपने विचारों को एकाग्र करो। अच्छे-बुरे के द्वन्द्वात्मक तर्क को छोड़कर अपने आन्तरिक संसार को देखो।" भिक्षु इस आदेश के अनुसार रात-भर ध्यान में बैठा रहा। प्रातः चार बजे के करीब उसे बांसुरी का सा शब्द सुनाई

दिया और उसके चित्त ने समाधि-सुख का प्रथम स्पर्श किया। प्रातः-काल उठकर उसने गुरु का दरवाजा खटखटाया। गुरु ने उसे फटकारते हुए कहा, "मैं तो चाहता था कि तू सत्य में अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर उसका रक्षक और प्रेषक बनेगा। तू शराब पीकर सड़क पर क्यों खर्राटे ले रहा है?" अनुभव ही ध्यान-बौद्ध धर्म का आदि है और वही उसका अवसान। और उसे जीवन में ही खोजना है, जीवन से भागकर नहीं। चुंग्-सिन् नामक चीनी शिष्य ने अपने गुरु ताओ-वू की बड़ी सेवा की। एक दिन शिष्य ने गुरु के पास आकर कहा, "जिस दिन से मैं यहां आया हूं, आपने मुझे धर्म के सार के बारे में कभी नहीं बताया।" गुरु ने उत्तर दिया, "जब से तुम यहां आये हो, मैं कभी तुम्हें धर्म का सार बताये बिना नहीं रहा हूं।" "आपने मुझे कब धर्म का सार बताया है?" शिष्य ने पूछा। गुरु ने उत्तर दिया, "जब तुम चाय के प्याले को लेकर मेरे पास आये हो, मैं कभी उसे बिना ग्रहण किए नहीं रहा हूं। जब तुमने हाथ जोड़कर आदरपूर्वक मुझे प्रणाम किया है, तो मैं कभी अपना सिर झुकाए बिना नहीं रहा हूं। बताओ, मैंने कब तुम्हें धर्म का उपदेश नहीं दिया है?" शिष्य काफी देर तक चुप-चाप खड़ा रहा। फिर गुरु ने कहा, "यदि तुम देखना चाहते हो तो तुम्हें सीधे और एक क्षण में ही देख लेना होगा। यदि तुम सत्य के साक्षात्कार के मानसिक विश्लेषण पर आग्रह करोगे जो तुम लक्ष्य से दूर जा पड़ोगे।" चुंग्-सिन् ने प्रकाश की एक झलक में अपने गुरु के मन्तव्य को समझ लिया।

ध्यान-सम्प्रदाय चीन और जापान में आज भी एक जीवित साधना-पद्धति है। उसके मठ और संघाराम हैं, जहां भव्य और कलापूर्ण ध्यान-मंदिर बने हुए हैं। प्रत्येक ध्यान-मंदिर के बीच में शाक्यमुनि बुद्ध की मूर्ति होती है जिसके चारों ओर बैठकर श्रद्धालु नर-नारी, भिक्षु और गृहस्थ, ध्यान (जापानी ज़-जेन् और चीनी चनन) करते हैं। चीन और जापान की संस्कृतियों पर ध्यान-बौद्धधर्म का व्यापक प्रभाव है। भारतीय अद्वैतवाद और भक्ति-अन्दोलन, विशेषतः रहस्यवादी सन्त-मत से, ध्यान-सम्प्रदाय की अनेक समानताएं हैं।

द्वैतभाव का निरसन करते-करते ध्यानी सन्त थकते नहीं। नाथ-पंथ और निर्गुण-पंथ की वाणियों के, विशेषतः मन के साधना-सम्बन्धी, कई ऐसे प्रसंग हैं जिनकी व्याख्या हम ध्यानी सन्तों की वाणियों से अच्छी प्रकार कर सकते हैं और कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और तात्त्विक निष्कर्ष निकाल सकते हैं। ध्यानवादी गुरु-शिष्यों के प्रश्नोत्तरमय संवाद (मोण्डो) सन्त-वाणी के समान हृदय को सीधे स्पर्श करने वाले हैं। वस्तुतः ध्यान-सम्प्रदाय भारतीय धर्म-साधना का पूर्वेशिया के अनुरूप मनोवैज्ञानिक परिणाम ही है। उसके अध्ययन से हम यह भली प्रकार समझ सकते हैं कि मूलतः हमारे देश में उत्पन्न यह साधना किस प्रकार चीनी और जापानी मन के द्वारा ग्रहण की गई और अपनी सुविधानुसार उसमें क्या-क्या परिवर्तन कर उसने उसे आत्मसात् कर लिया। चीन और जापान के पास जो सर्वोत्तम है, उसके निर्माण में ध्यान-सम्प्रदाय ने योग दिया है। अनेक विचार और कल्पनाएं उसने वहां के साहित्यकारों, विचारकों और कलाकारों को दी हैं। वह वहां के पण्डितों और भिक्षुओं का ही धर्म नहीं है, किसानों, मजदूरों और सिपाहियों का भी धर्म है। अनेक संस्कार, जैसे चाय-संस्कार आदि, उसके प्रभाव के कारण चीनी और जापानी जीवन के अंग बन गए हैं। आधुनिक जीवन के भारों से व्यस्त, आर्थिक संघर्षों और राजनीतिक क्षुद्रताओं से त्रस्त मनुष्य ध्यान-संप्रदाय के प्राणवान् साहित्य से नई शक्ति और स्वस्थता प्राप्त कर सकता है। विशेषतः हमारे देश में एशिया की सांस्कृतिक एकता के साथ-साथ, सन्त मत जैसे सरल, विलक्षण और अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य का अध्ययन और मनन हमारे आध्यात्मिक अनुभव की समृद्धि और गवाही के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

●
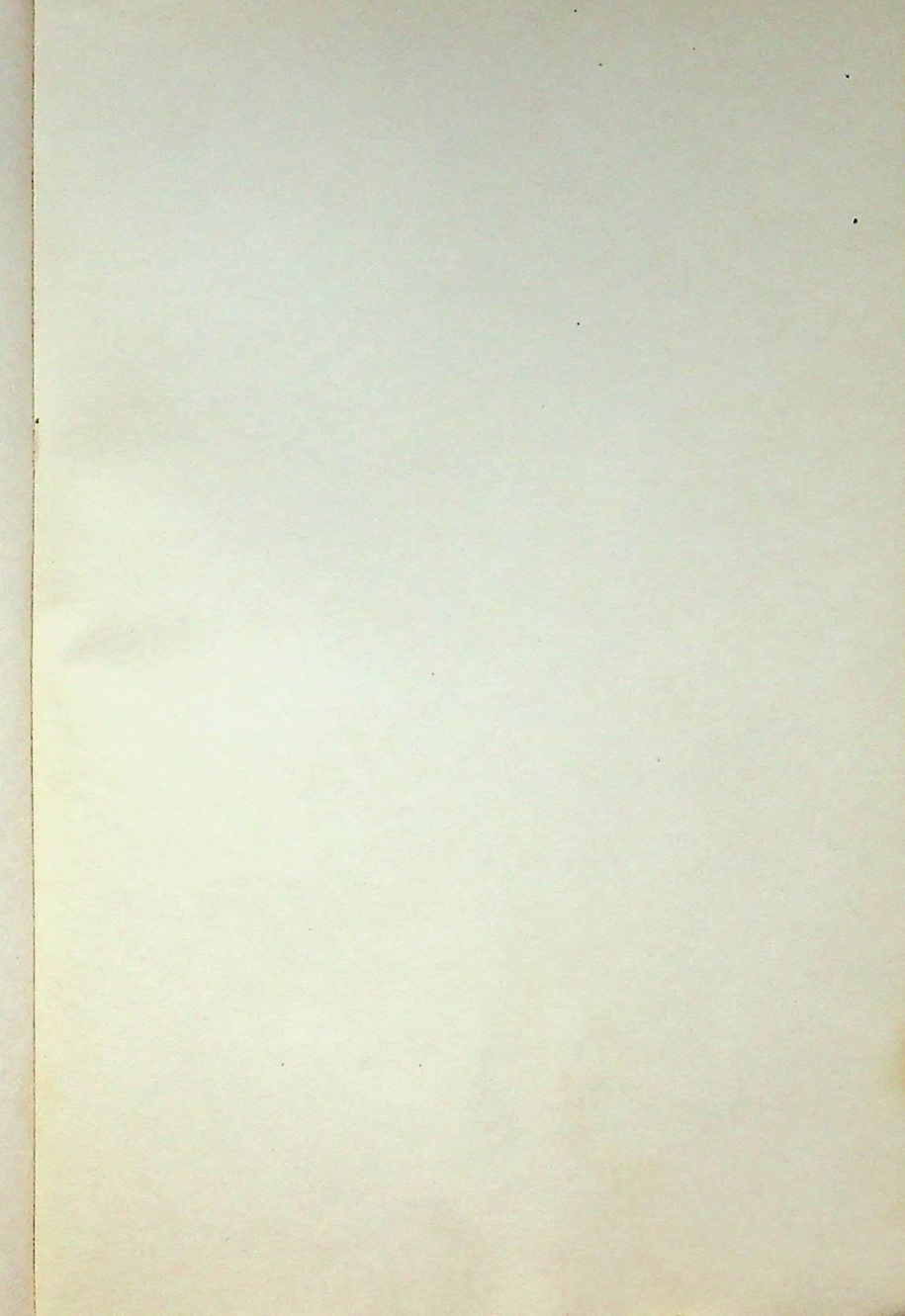
'मंडल' द्वारा प्रकाशित

धर्म, अध्यात्म, दर्शन साहित्य

□

- भगवद्गीता
- भजगोविन्दम स्तोत्र
- विष्णु सहस्रनाम
- गीता की महिमा
- अनासक्ति योग
- भगवान हमारा मित्र
- उपनिषदों का बोध
- उपनिषद
- वेदान्त
- बुद्धवाणी
- गोस्वामी तुलसीदास के सुबोध दोहे
- कबीर साहब की सुबोध साखियां
- वृन्द कवि के सुबोध दोहे
- रहीम के सुबोध दोहे
- कविवर बिहारी के सुबोध दोहे
- भक्तवर सूरदास के सुबोध पद
- मीराबाई के सुबोध पद
- गिरिधर की सुबोध कुंडलियां
- विनय पत्रिका
- बुद्ध और बौद्ध साधक
- बोधि वृक्ष की छाया में

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन